THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_186613
UNIVERSAL LIBRARY

तत्व-ज्ञान

हिन्दी परामर्श समिति ग्रन्थमाला–२

तत्व-ज्ञान

लेखक
डा० दीवानचन्द

प्रकाशन ब्यूरो
उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बसस्टॅण्ड,) हैदराबाद द.

प्रथम संस्करण
१९५६

मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

भारत की राजभाषा के रूप मे हिन्दी की प्रतिष्ठा के पश्चात् यद्यपि इस देश के प्रत्येक जन पर उसकी समृद्धि का दायित्व है, किन्तु इससे हिंदी भाषा-भाषी क्षेत्रो के विशेष उत्तरदायित्व मे किसी प्रकार की कमी नही आती। हमे सविधान में निर्धारित अवधि के भीतर हिन्दी को न केवल सभी राज-कार्यों मे व्यवहृत करना है, उसे उच्चतम शिक्षा के माध्यम के लिए भी परिपुष्ट बनाना है। इसके लिए अपेक्षा है कि हिन्दी मे वाङमय के सभी अवयवो पर प्रमाणित ग्रन्थ हो और यदि कोई व्यक्ति केवल हिन्दी के माध्यम से ज्ञानार्जन करना चाहे तो उसका मार्ग अवरुद्ध न रह जाय।

इसी भावना से प्रेरित होकर उत्तर प्रदेश शासन ने अपने शिक्षा विभाग के अन्तर्गत साहित्य को प्रोत्साहन देने और हिन्दी के ग्रन्थो के प्रणयन की एक योजना परिचालित की है। शिक्षा विभाग की अवधानता मे एक हिन्दी परामर्श समिति की स्थापना की गयी है। यह समिति विगत वर्षो मे हिन्दी के ग्रन्थो को पुरस्कृत करके साहित्यकारो का उत्साह बढाती रही है और अब इसने पुस्तक प्रणयन का कार्य आरम्भ किया है।

समिति ने वाङमय के सभी अगो के सम्बन्ध मे पुस्तको का लेखन और प्रकाशन कार्य अपने हाथ मे लिया है। इसके लिए एक पंच-वर्षीय योजना बनायी गयी है जिसके अनुसार ५ वर्षों मे ३०० पुस्तको का प्रकाशन होगा। इस योजना के अन्तर्गत प्रायः वे सब विषय ले लिये गये है जिस पर संसार के किसी भी उन्नतिशील साहित्य मे ग्रन्थ प्राप्त है। इस बात का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमे से प्राथमिकता उसी विषय अथवा उन विषयों को दी जाय जिनकी हिन्दी मे नितान्त कमी है।

प्रदेशीय सरकार द्वारा प्रकाशन का कार्य आरम्भ करने का यह आशय नही है कि व्यवसाय के रूप मे यह कार्य हाथ मे लिया गया है। हम केवल ऐसे ही ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहते है जिनका प्रकाशन कतिपय कारणो से अन्य स्थानो से नही हो पाता। हमारा विश्वास है कि इस प्रयास को सभी क्षेत्रो से सहायता प्राप्त होगी और भारती के भण्डार को परिपूर्ण करने मे उत्तर प्रदेश का शासन भी किंचित योगदान देने मे समर्थ होगा।

भगवती शरण सिंह
सचिव
हिन्दी परामर्श समिति

प्रस्तावना

एक लेखक ने तत्व-ज्ञान की ऐसी महारानी से उपमा दी है, जिसे राज-सिहासन से उतार दिया गया है। इस कथन को समझने के लिए हम स्थिति को सिद्धान्त और व्यवहार के दृष्टिकोणो से देख सकते है। सिद्धान्त के सम्बन्ध मे एक समय था जब हर प्रकार के उच्च विचार दार्शनिक विचार ही समझे जाते थे। गणित, ज्योतिष, और विज्ञान स्वतन्त्र विद्याए न थी। स्थिति बदली, और महारानी की सन्तान ने बगावत कर दी। उन्होने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की, और तत्व-ज्ञान के बहुत बड़े इलाके पर अपना अधिकार कर लिया। अब तो आत्म-विद्या अपने आपको मनोविज्ञान कहती है, और नीति-विवेचन अपने आपको विज्ञान की एक शाखा समझना चाहता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखे, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-जाति ने एक नये मार्ग पर चलना आरम्भ कर दिया है। टामस कार्लाइल ने कहा था कि नवीन सस्कृति दो वस्तुओ मे निहित है——सस्ती कपास और तेज चलने वाली रेल गाड़िया। कार्लाइल के पीछे स्थिति और बदल गयी है। अब तेज रेल गाडियो की तेजी तेजी नही रही। अब बनाने की अपेक्षा तोडना अधिक प्रिय हो रहा है। ससार मे हर ओर शक्ति और इसके प्रमुख साधन धन के पीछे सभी दौड रहे है। तत्व-ज्ञान ने इन दोनो को कभी प्रमुख स्थान नही दिया। भारत मे जिन विचारको ने भारत को गौरवशाली बना दिया, वे दुनियावी शक्ति और धन के उपासक न थे। नवीन काल मे भी दयानन्द, रामकृष्ण और गाधी लगोटबन्द थे। उनकी सारी सम्पत्ति उनके मस्तिष्क और हृदय मे बन्द थी। वर्तमान रहन-सहन और जीवन-आदर्शो ने लोगो को तत्व-ज्ञान से विमुख कर दिया है।

तत्व-ज्ञान ऐसी महारानी है जिसे राज-सिहासन से उतार दिया गया है, परन्तु उसने इस स्थिति को स्वीकार नही किया। और आश्चर्य न होगा, यदि उसे फिर अपना पुराना स्थान मिल जाय। विज्ञान फिर तत्व-ज्ञान की ओर झुक रहा है; और यह कहना कठिन हो जाता है, कि जब वैज्ञानिक अपने गूढ़ विचारो का वर्णन करते

हैं, तो वे विज्ञान कह रहे हैं, या तत्व-ज्ञान। व्यावहारिक दृष्टि से भी दुनिया को जितनी तत्व-ज्ञान की अब आवश्यकता है, उतनी पहले कभी न थी।

जिन लोगों को तत्व-ज्ञान के अध्ययन में दिलचस्पी है, उनके लिए तो तत्व-ज्ञान ऐसी तुष्टि का स्रोत है, जिसकी उपमा मिल नही सकती। सेण्टायना के शब्दो मे, तत्व-ज्ञान साधारण जीवन की स्थिति को उन्नत करने का साधन ही नही, यह अपने आप मे साधारण जीवन से अधिक तीव्र अनुभव भी है, जैसे एकान्त मे सुना हुआ शब्द और सूक्ष्म राग तूफानो की चीखों और नगरों के शोर शराबे से अधिक तीव्र होता है।

६३ छावनी, कानपुर
२० फरवरी '५६

दीवानचन्द

सूची

प्रथम भाग

विषय-प्रवेश १–३०

तत्व-ज्ञान : क्षेत्र, सम्बन्ध और विधि ३

ज्ञान-मीमासा १७

द्वितीय भाग

सत्-विवेचन ३१–८१

परतम जातिया ३३

द्रव्य-निरूपण ४१

अनुभववादियो का आगम-पथ ५१

अद्वैतवाद ६१

द्वैतवाद ७२

तृतीय भाग

विराट-विवेचन ८३–१२४

भूमण्डल की रूपरेखा ८५

भूमण्डल-प्रवाह और उसका समाधान ९३

विकासवाद (१) १०२

विकासवाद (२) ११४

चतुर्थ भाग

आत्म-मीमांसा १२५–१६६

अनुभव का सामान्य विवरण १२७

आत्मा का स्वरूप-निरूपण (१) १३६

आत्मा का स्वरूप (२) १४५
निरपेक्ष अध्यात्मवाद १५६

पञ्चम भाग

धर्म-विवेचन **१६७–२०३**

आस्तिकवाद के पक्ष मे १६९
ईश्वर का स्वरूप : कुछ प्रश्न १८४
ब्रह्मसर्ववाद और ईश्वरवाद १९४

पर्यायवाची शब्द **२०४–२०५**

प्रथम भाग

विषय-प्रवेश

तत्व-ज्ञान : क्षेत्र, सम्बन्ध और विधि

१. संस्कृति और उसके अंग

किसी जाति की संस्कृति मे चार अंग प्रमुख रूप से देखे जाते है :—विज्ञान, कला, तत्व-ज्ञान, और नीति।

नीति में वैयक्तिक व्यवहार और सामाजिक व्यवहार दोनो सम्मिलित होते है। सामाजिक व्यवहार को निश्चित करना राजनीति का काम है, यह नीति का एक भाग ही है। सस्कृति मे धर्म का स्थान भी महत्व का स्थान है। इसे कहा रखे? इस प्रश्न का उत्तर देना सहज नही। यह उपर्युक्त चारो अशो मे से प्रत्येक के साथ ऐसा घुला-मिला होता है कि इसे उनसे अलग करना कठिन हो जाता है। इसका एक कारण है।

मनुष्य की प्रकृति मे तीन पक्ष स्पष्ट दिखायी देते है : ज्ञान, भाव, और कर्म। ज्ञान मे हम इन्द्रियो की देन से आरम्भ करते है, परन्तु उसके साथ समाप्त नही कर देते। जो सामग्री हमे इन्द्रियो से प्राप्त होती है, हमारा मन उसे विशेष आकृति देता है। मनन का काम बहुत महत्व का है, परन्तु इस मनन का आधार इन्द्रियों की देन ही होता है। कुछ लोग कहते है कि स्वतन्त्र मनन भी सम्भव है, और ऐसा मनन ही मनुष्य की विशिष्टता है। परीक्षण और मनन की प्रमुखता के आधार पर विज्ञान और तत्व-ज्ञान मे भेद हो जाता है। भाव का काम कुछ काल के लिए, अनुभव करने वाले व्यक्ति और अनुभूत पदार्थ के भेद को मिटा देना है। जब हम किसी सुन्दर चित्र को देखते है, कोई मधुर राग सुनते है, या किसी कविता का पाठ करते है, तो उसमें ऐसे विलीन होते है कि अपनी सुध-बुध ही नही रहती। कर्म की बाबत हम सोचते है कि वह अच्छा है, या बुरा है।

विज्ञान और तत्व-ज्ञान का उद्देश्य सत्य को जानना है; कला का उद्देश्य सौन्दर्य को पैदा करना और उसका रस लेना है; नीति का उद्देश्य आचरण को व्यवस्थित करना है। इन तीनों का सम्बन्ध मानसिक जीवन के एक-एक पहलू से है। धर्म का

सम्बन्ध समस्त जीवन से है। यह किसी पक्ष की ओर से उदासीन नही हो सकता। इसका परिणाम यह है कि कोई इसे ज्ञान से संयुक्त करता है, कोई भक्ति में इसके मर्म को देखता है; कोई नीति और धर्म को अभिन्न बताता है। ये दृष्टिकोण संकुचित है। वास्तव मे धर्म मे ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग तीनों का समन्वय है।

हम तत्व-ज्ञान का अध्ययन कर रहे है। तत्व-ज्ञान का क्षेत्र निश्चित नही। पहले यह बहुत विस्तृत था, अब सकुचित हो रहा है। अफलातू के समय मे भौतिक विज्ञान और ज्योतिष विद्या भी इसके अंग समझे जाते थे। अब ऐसा नही है। कई शतियो तक तत्व-ज्ञान धर्म का उपकरण बना रहा, अब विज्ञान इस पर प्रभाव डालना चाहता है। दार्शनिक प्रायः यत्न करते रहे है कि इसे स्वतन्त्र विषय बनाये।

तत्व-ज्ञान के विषय को समझने के लिए, हम देखेगे कि यह विज्ञान और धर्म से कहा मिलता है, और कहा भिन्न है।

२. विज्ञान और तत्व-ज्ञान

प्रत्येक कालेज मे, जो विज्ञान की शिक्षा का प्रबन्ध करता है, भौतिक विज्ञान, रसायन-विद्या, प्राण-विद्या, और गणित की शिक्षा दी जाती है। इन विभागो में क्या काम होता है ?

भौतिक विज्ञान प्रकृति के रूपो और उसकी क्रियाओ का अध्ययन करता है। प्रकृति ठोस, तरल, और गैस——तीन रूपो मे व्यक्त होती है। ठोस पदार्थ के अणु एक दूसरे के निकट रहना चाहते है। इसके फलस्वरूप, ऐसे पदार्थो के विस्तार और आकार स्थिर से होते है। मै मेज, कुर्सी, पुस्तक की हालत मे रोज ऐसा देखता हू। तरल पदार्थ के अणुओ मे इतना स्नेह नही होता, वे सीमाओ के अन्दर अपने स्थान को बदल सकते है। इसका फल यह होता है कि उनका विस्तार तो स्थिर होता है, परन्तु आकार स्थिर नही होता। पानी को जिस पात्र मे डाले, उसी के आकार को ग्रहण कर लेता है। गैस के अणु एक दूसरे से जितनी दूर जा सके, जाना चाहते है: इसकी हालत मे न विस्तार निश्चित होता है, न आकृति। प्रकृति की क्रिया गति के रूप मे होती है। भौतिक विज्ञान सामान्य प्रकृति का अध्ययन करता है, प्रकृति के विविध गुणो की ओर ध्यान नही देता। रसायन-विद्या इस भेद की ओर विशेष ध्यान देती है। इसका प्रमुख काम विविध प्रकार की प्रकृति के सयोग-वियोग का अध्ययन करना है। हाइड्रोजन और आक्सिजन विशेष मात्रा मे मिले, तो उनके मेल से जल प्रकट हो जाता है, जिसके गुण उन दोनो के गुणो से भिन्न होते है। प्राण-विद्या जीवन के विविध प्रकरणो का अध्ययन करती है।

इन तीनों विद्याओं की हालत मे हम देखते है कि—

१. प्रत्येक शाखा अपने लिए कार्य-क्षेत्र निश्चित करती है; और जहा तक बन पड़े, उसके अन्दर ही काम करती है।

२. निश्चित क्षेत्र मे उसका प्रमुख काम तथ्य की खोज है। इसके लिए परीक्षण और निरीक्षण का प्रयोग होता है। प्रयोगशाला इन विभागो का केन्द्र होती है।

हम गणित के आचार्य के कमरे मे आते है। दीवार पर एक काला बोर्ड लगा है, और प्रोफेसर की मेज पर चाक की डली पडी है। हम पूछते है—'प्रयोग-शाला कहां है!' उत्तर मिलता है—'यहा प्रकृति अध्ययन का विषय ही नही; प्रयोग-शाला का क्या काम? हम तो सख्या और आकाश के गुणो की बाबत चिन्तन करते है।' यहा भी क्षेत्र की सीमा विद्यमान है, परन्तु परीक्षण और निरीक्षण का स्थान मनन ने ले लिया है। प्राकृत विज्ञान मे तथ्य की प्रधानता है। एक तथ्य, वास्तविक तथ्य, किसी मान्य प्रतिज्ञा को समाप्त कर देने के लिए पर्याप्त है। गणित मे खोज का विषय 'तथ्य' नही, 'सम्बन्ध' है।

तत्व-ज्ञान का क्षेत्र क्या है?

इसके क्षेत्र के बाहर कुछ भी नही। विज्ञान की प्रत्येक शाखा सत्ता के किसी अंश का अध्ययन करती है, तत्व-ज्ञान का विषय समस्त सत्ता है। विस्तार मे इसका क्षेत्र निस्सीम है। सारा विश्व इसके विवेचन का विषय है।

यह पहिला विशेषण है जो तत्व-ज्ञान को विज्ञान से अलग करता है।

इसका अर्थ यह नही कि तत्व-ज्ञान प्राकृत विद्याओ का समूह है। विज्ञान और तत्व-ज्ञान के दृष्टि-कोण मे भेद है। जैसा हमने ऊपर कहा है, प्राकृत विज्ञान तथ्य की खोज को अपने उद्देश्य मे प्रथम स्थान देता है। इसके लिए तथ्य की अपने आप मे कीमत है। तत्व-ज्ञान के लिए, कोई तथ्य ज्ञान-मडल के अश की स्थिति मे ही महत्व रखता है। ऐसे तथ्य की बाबत तत्व-ज्ञान पूछता है कि इसे समझ कर हम विश्व की बाबत क्या जान सकते है। अन्य शब्दो मे, तत्व-ज्ञान मौलिक तत्वो को अपने विवेचन का विषय बनाता है।

भौतिक विज्ञान प्रकृति और उसकी गति की बाबत खोज करता है। गति एक स्थान से दूसरे स्थान को होती है, और इसमे कुछ काल लगता है। हम भौतिक विज्ञान से पूछते है—'तुम्हे कैसे मालूम है कि प्रकृति का अस्तित्व है? तुम्हे कैसे पता है कि देश और काल सत्ता के भाग है, और भ्रम-मात्र नही?' वह उत्तर देता है—'मै इन झमेलो मे नही पडता, मै यह फर्ज करके चलता हू कि प्राकृत पदार्थ विद्यमान है,

और देश-काल के ढांचे में विद्यमान हैं।' तत्व-ज्ञान किसी भी उलझन से बचना नहीं चाहता; यह कुछ फर्ज नही करता। जो कुछ विज्ञान की शाखाएं फर्ज करती हैं, यह उनकी जांच करता है, और अन्तिम सत्य को साक्षात् देखना चाहता है। इसका एकमात्र उद्देश्य, बुद्धि के प्रयोग से, सत्य और सत्ता को जानना है।

विज्ञान तथ्य को महत्व देता है; तथ्य को देखने के लिए, परीक्षण और निरीक्षण का प्रयोग करता है। जब हम बाहर की ओर देखते है, तो घटनाओं को ही देखते है। परन्तु जैसा एक उपनिषद् में कहा है, कभी-कभी हम अन्दर की ओर भी दृष्टि को फेरते हैं। वहां हम ज्ञान के साथ, पसन्द और नापसन्द के भावों को भी देखते है। हम उत्तम और अधम मे भेद करते हैं। तथ्यों के अतिरिक्त 'मूल्य' का भी अस्तित्व है। विज्ञान 'मूल्य' के अस्तित्व की बाबत सोचता ही नही। भौतिक विज्ञान के लिए, राग और शोर दोनो शब्द-मात्र है। तत्व-ज्ञान आदर्शों को अपने अध्ययन-क्षेत्र में उच्च स्थान देता है। यह आदर्श सत्य, सौन्दर्य, और शुभ के रूप में व्यक्त होता है। कुछ लोग केवल सत्य को तत्व-ज्ञान का विषय बताते है; कुछ सौन्दर्य और भद्र को भी इसके साथ मिलाते है। कुछ भी हो, यह तो स्पष्ट ही है कि तत्व-ज्ञान विज्ञान की तरह, अपने आपको प्रकटनों की दुनिया मे बन्द नही करता। यह पूछता है कि प्रकटनों से परे और इनके नीचे, कोई सत्ता है, या नही? और यदि है, तो उसका स्वरूप क्या है? वह सत्ता एक है, या अनेक? आत्मिक है, या अनात्मिक है? आत्मिक और अनात्मिक दोनो है, या इनमे से एक भी नही? विज्ञान ऐसे प्रश्नो में नही पड़ता, तत्व-ज्ञान मे, ऐसे प्रश्न केन्द्रीय स्थान रखते हैं।

इस तरह, विज्ञान और तत्व-ज्ञान में तीन प्रमुख भेद है :—

(१) विज्ञान की प्रत्येक शाखा अपने लिए एक सीमित क्षेत्र निश्चित करती है; तत्व-ज्ञान का विषय समस्त सत्ता है।

(२) विज्ञान की प्रत्येक शाखा अपना अध्ययन कुछ धारणाओं को फर्ज करके आरम्भ करती है; तत्व-ज्ञान कुछ फर्ज नही करता। विज्ञान की फर्ज की हुई धारणाओं की जांच करना इसका काम है।

(३) विज्ञान प्रकटनों की दुनिया से परे नही जाता; यह भी नही पूछता कि इस दुनिया से परे कुछ है भी या नही। तत्व-ज्ञान के लिए यह प्रश्न अतीव महत्व का प्रश्न है। विवेचन का परिणाम कुछ भी हो, अन्तिम सत्ता पर विचार तो होता ही है।

३. धर्म और तत्व-ज्ञान

'बाहर की ओर देखो।'

'अन्दर की ओर देखो।'

'ऊपर की ओर देखो।'

प्राकृत विज्ञान का स्थायी आदेश है—'बाहर की ओर देखो।' बाहर की ओर हम देखते तो रहते ही है; विज्ञान कहता है कि जो कुछ देखें, उसे व्यवस्थित और गठित करें। मनोविज्ञान कहता है—'अन्दर की ओर देखो।' अन्दर की ओर भी हम देखते है, परन्तु अनियमित रूप मे। मै नदी के किनारे बैठा, उसके विस्तार, उसकी लहरों, उसके प्रवाह को देख रहा हू। पीछे से एक मित्र आता है, और कहता है—'क्या कर रहे हो ?' मै कहता हूं—'नदी की स्थिति को देखता हूं, और सुहावने दृश्य का आनन्द ले रहा हूं।' मित्र के आने से पहले मै बाहर की ओर देख रहा था; उसके प्रश्न पूछने पर मैने अन्दर की ओर देखना आरम्भ किया, और देखा कि मन क्या कर रहा था। मनोविज्ञान भी कहता है कि जो कुछ मन की बाबत देखे, उसे व्यवस्थित करें। विज्ञान और मनोविज्ञान दोनो हमे तथ्यो की दुनिया मे रखते है; हम देखते है कि वास्तविक स्थिति क्या है। जब हम ऊपर की ओर देखते है, तो हम तथ्य की दुनिया से ऊपर उठते है, और आदर्शो की दुनिया मे पहुचते है। अपने अल्प स्वत्व को विश्व का केन्द्र नही, अपितु इसका एक तुच्छ भाग समझते है। धर्म हमे ऐसा करने का आदेश देता है।

धर्म और धर्म-विवेचन या परमार्थ-विद्या मे भेद है। जो पुरुष कभी पृथिवी से १० फुट ऊंचा नही हुआ, वह यह बात जान सकता है कि हम चन्द्रमा तक कैसे पहुंच सकते हैं। जो पुरुष कभी तैरा नही, वह तैरने की विधि पर अच्छा निबन्ध लिख सकता है। इसी तरह, यह सम्भव है कि एक पुरुष परमार्थ-विद्या मे निपुण हो, और उसके जीवन में धर्म का प्रभाव कुछ न हो।

धर्म केवल मन्तव्य नही; जीवन का ढंग है। प्रकाश नही अपितु आत्म-सिद्धि इसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य मे मन्तव्य और कर्तव्य दोनो सम्मिलित है। यहा हमे, इसके मन्तव्य भाग को सम्मुख रखकर, देखना है कि धर्म और तत्व-ज्ञान के दृष्टि-कोण में क्या भेद है।

इस विषय मे, जैसा हम आशा कर सकते हैं, मतभेद है।

फ्रांस के विचारक आगस्ट काम्ट का ख्याल है कि अपने मानसिक विकास मे, मानव जाति तीन मंजिलों से गुजरी है। जिस जगत में हम जीवन व्यतीत करते हैं,

उमे समझना आवश्यक है। जो कुछ हो रहा है, उसके समाधान के सम्बन्ध मे यह उत्थान हुआ है। पहिली मंजिल में, विश्व की घटनाओं को चेतन शक्तियों की क्रिया समझा जाता था। जब अनेक देवी-देवताओ के स्थान मे, एक ईश्वर की पूजा होने लगी, तो भी प्राकृत घटनाओ के समाधान में कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ। इस मंजिल को काम्ट 'आस्तिकवाद' की मजिल कहता है।

दूसरी मंजिल मे, चेतन देव या देवों का स्थान अचेतन शक्तियो ने लिया। पहिली मजिल मे लोग विश्वास करते थे कि ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन चन्द्रमा पृथिवी के गिर्द घूमता है, दूसरी मजिल मे उन्होने आकर्षण-शक्ति की शरण ली। इसी तरह, अन्य घटनाओ के लिए भी विविध शक्तियो की कल्पना की गयी। काम्ट इस मंजिल को दार्शनिक मंजिल का नाम देता है।

तीसरी मंजिल मे, जिस पर मानव जाति अब चल रही है, कल्पना को एक ओर रख दिया गया है, और तथ्य और वास्तविकता को यथार्थ देखना ही पर्याप्त समझा गया है। यदि किसी समाधान की सम्भावना है, तो वह हमारी पहुच से परे है। चन्द्रमा पृथिवी के गिर्द घूमता है, यह तथ्य है, ऐसा क्यो होता है इसकी बाबत हम कुछ नही कह सकते। वर्तमान मजिल को काम्ट वास्तविक मजिल का नाम देता है। काम्ट 'वास्तविकतावाद' का स्थापक है।

काम्ट के अनुसार, धर्म और तत्व-ज्ञान दोनो पूर्व काल मे सासारिक घटनाओ के ममाधान स्वीकार किये जाते थे, अब दोनो का समय बीत चुका है।

एक दूसरा विचार न धर्म को और न तत्व-ज्ञान को भूतकाल की कल्पना बताता है। इसके अनुसार यह दोनो जीवित हैं, और जीवित रहेंगे। धर्म और तत्व-ज्ञान दोनो का लक्ष्य अन्तिम सत्ता को साक्षात् देखना है। इसी को आत्म-सिद्धि कहते हैं। भेद इतना है कि तत्व-ज्ञान बुद्धि पर पूरा भरोसा करता है, और जहा तक बुद्धि जाती है, वही ठहर जाने पर तैयार है, धर्म बुद्धि से अलग, विशेष आत्म-ज्योति को स्वीकार करता है, और उसे बुद्धि से अधिक महत्व देता है। कुछ दार्शनिक भी इसमे धर्म के दृष्टि-कोण को अपनाते हैं। बर्गसाँ के विचार मे जीवन-शक्ति ही व्यापक सत्ता है। बुद्धि का काम तोड-फोड़ है, और यह इस सत्ता को अपने असली रूप मे नही दिखलाती। आत्म-ज्योति इमे वास्तविक रूप मे बताती है। इसी प्रकार का ख्याल हमारे देश मे भी मान्य रहा है। यहा तो तत्व-ज्ञान को कहते ही 'दर्शन' है। बुद्धि का काम सत्य को जानना नही, जाने हुए सत्य को अपने लिए और दूसरो के लिए प्रमाणित और निर्भ्रान्त करना है।

इस विचार के अनुसार धर्म और तत्व-ज्ञान का लक्ष्य एक ही सत्ता को जानना

है; परन्तु धर्म में बुद्धि के साथ कल्पना भी सम्मिलित हो जाती है, और धार्मिक ज्ञान में लक्ष्यात्मक अंश प्रस्तुत हो जाता है। तत्व-ज्ञान अपने आप को कल्पना के प्रभाव से बचाने का प्रयत्न करता है।

पश्चिम मे, जर्मनी के दार्शनिक हीगल ने धर्म और तत्व-ज्ञान को अभिन्न बताया है। भारत मे, उपनिषदो और गीता मे कुछ लोग तत्व-ज्ञान पढते है, बहुसंख्या इन्हे धर्म-पुस्तकों के रूप मे देखती है।

एक तीसरे विचार के अनुसार, धर्म तत्व-ज्ञान से आगे जाता है। तत्व-ज्ञान आत्मिक जीवन के एक अश के साथ सम्बद्ध है, इसे श्रद्धा और कर्म से सम्बन्ध नही। धर्म का उद्देश्य, जैसा ऊपर कह चुके है, आत्म-सिद्धि है; जिसमे ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनो मूल्यवान है।

विज्ञान, तत्व-ज्ञान, और धर्म तीनो ज्ञान, सत्य-ज्ञान, प्राप्त करना चाहते है। सत्य-ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?

भारत मे दर्शन-शास्त्र प्रमाणो को अपने अध्ययन का एक-प्रमुख विषय बनाता है। तीन प्रमाण सर्वमान्य है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द-प्रमाण। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जो इन्द्रियो के प्रयोग से प्राप्त होता है, या अन्दर की ओर दृष्टि डालने से स्पष्ट अनुभूत होता है। मै हरेपन को देखता हू, और यह अनुभव करता हू कि इस समय थका हुआ हूं। ये मेरे स्पष्ट अनुभव है; इनकी बाबत मुझे सन्देह हो ही नही सकता। अनुमान मे, प्रत्यक्ष की नीव पर, हम ऐसे तथ्यो तक पहुचते है, जो इस समय प्रत्यक्ष नही, परन्तु उपयोगी स्थिति मे प्रत्यक्ष हो सकते है। हम परमाणुओ को देखते नही, परन्तु जो कुछ देखते है, उसकी नीव पर, इनकी बाबत अनुमान करते है। हम समझते है कि यदि हमारी देखने की शक्ति बहुत बढ जाय, तो हम परमाणुओ को देख सकेंगे। प्रत्यक्ष और, इस पर आधारित अनुमान दोनो तथ्य की बाबत बताते है। मै देखता हूं कि एक लडका अपनी मा को पीट रहा है। यह एक तथ्य का ज्ञान है। मै जानना चाहता हू कि वह ऐसा क्यो करता है। स्थिति को देखकर, मै अनुमान करता हू कि उसके दिमाग मे कुछ विकार है। यह भी एक तथ्य है। लडके का पिता पास खडा तमाशा देख रहा है। मै उसकी वृत्ति को नीच वृत्ति कहता हू। यह ऊच-नीच का ख्याल न प्रत्यक्ष है, न अनुमान है। ऐसे ज्ञान के लिए, शब्द-प्रमाण का सहारा लिया जाता है। विज्ञान मे प्रत्यक्ष प्रधान है, तत्व-ज्ञान मे अनुमान की प्रधानता है, धर्म शब्द-प्रमाण पर आश्रित है।

४. तत्व-ज्ञान के प्रमुख प्रश्न

तत्व-ज्ञान का उद्देश्य मानव-अनुभव का समाधान है।

विज्ञान तथ्यों को एकत्र करता है, उन्हें व्यवस्थित करता है, और उनका समाधान करने का यत्न करता है। यह 'क्या ?' 'कैसे ?' और 'क्यो ?'—तीन प्रश्नों का उत्तर देना चाहता है। विज्ञान के लिए, किसी तथ्य का समाधान उसे कुछ अन्य तथ्यों से सगत करना है। कारण-कार्य सम्बन्ध विज्ञान मे मौलिक प्रत्यय है। जब हम कहते है कि कोई घटना कुछ अन्य विशिष्ट घटनाओ के होने पर अवश्य होती है, और उनके न होने की हालत में कभी नही होती, तो हमने उसका वैज्ञानिक समाधान कर दिया है। विचाराधीन घटना अब अकेली, असंगत घटना नही रही। दार्शनिक समाधान का उद्देश्य किसी घटना के निहित या अव्यक्त अर्थ को व्यक्त करना है। एक उदाहरण मे इसे स्पष्ट कर सकते है।

'मै यह लेख कोरे कागज पर लिख रहा हू, मेरी रुचि इसे लिखने मे है। मै इस आशा के साथ लिख रहा हूं कि कुछ लोग इसे पढ़ेगे, और सम्भवतः उन्हे इससे कुछ लाभ होगा। मैने इस विषय का अध्ययन किया है; मुझे अपने ज्ञान को दूसरो तक पहुचाना चाहिए। समाज का हित इसी मे है।'

ऊपर का परिच्छेद मेरे वर्तमान अनुभव को प्रकट करता है। इसका साधारण अर्थ स्पष्ट ही है; परन्तु इसमें कुछ अस्पष्ट अर्थ भी निहित है, या नही ?

'मै यह लेख कोरे कागज पर लिख रहा हूं।'

मै अपने अस्तित्व की घोषणा करता हू।

मै अपने आपको कागज से पृथक करता हू।

मै कागज के एक गुण और अपनी क्रिया की बाबत कहता हू।

मै अपनी रुचि को अपनी क्रिया का कारण समझता हूं।

'मैं इस आशा के साथ लिख रहा हूं कि कुछ लोग इसे पढेंगे।'

मेरा विश्वास है कि संसार में अन्य मनुष्य भी मौजूद है; और मनुष्य एक दूसरे को समझ सकते है; अर्थात् वे एक दूसरे से मानसिक सम्पर्क कर सकते है।

'उन्हें इससे कुछ लाभ होगा।'

यहां मै तथ्य की दुनिया से निकल कर, 'मूल्य' की दुनिया मे पहुंचता हू; लाभ और हानि, भद्र और अभद्र मे भेद करता हूं।

'मैने इस विषय का अध्ययन किया है; मुझे अपने ज्ञान को दूसरों तक पहुचाना चाहिए।'

वाक्य के दूसरे भाग मे 'चाहिए' शब्द का प्रयोग कर्तव्य की ओर संकेत करता है।

'समाज का हित इसी मे है।'

यहां मनुष्यो के अतिरिक्त 'समाज' का प्रत्यय भी आ गया है। मै यह भी कहता हू कि हित और अहित व्यक्तियों का ही नही होता, समस्त समाज का भी होता है।

छोटे से गद्याश मे मै कितनी बाते कह गया हूं। अन्य पुरुष भी ऐसा ही करते है। जो कुछ भी मैंने कहा है, तत्व-ज्ञान उसे जाचना चाहता है। मै कहता हूं—'इसमे जांचने की कौन सी बात है ?' तत्व-ज्ञान कहता है—'उतावली' न करो, अभी देख लेते है।'

(१) मै कहता हूं—'कागज कोरा है, और मै इस पर लिख रहा हू।' मै कागज को उसके गुणो से अलग करता हूं; अपने आपको अपनी क्रिया से अलग करता हूं। यह निर्विवाद तथ्य नही। मेरी ज्ञानेन्द्रिया मुझे गुणों की बाबत बताती है; गुणो का अधिष्ठान या आश्रय तो मेरा अनुमान है। ज्ञानेन्द्रिया आप भी प्राकृत पदार्थ ही देखती है। इनके गुणो से परे भी हम कुछ नही जानते। सारा दृष्ट जगत गुणो का ही समूह है, या गुणो के अतिरिक्त गुणी का भी अस्तित्व है ?

'हम इन गुणों को जानते है।' हम कौन है ?

बाह्य जगत मे गुण ही दिखायी देते है; अन्तरंग जगत मे अवस्थाए ही दिखायी देती है। अनुभव मे तो प्रकटन ही प्रकटन है। क्या इन प्रकटनो के अतिरिक्त कोई अनुभव करने वाला भी है ?

तत्व-ज्ञान का पहिला बड़ा प्रश्न यह है—

'सत्ता और प्रकटनो का भेद वास्तविक है, या कल्पना मात्र है ?' 'द्रव्यवाद' द्रव्य की सत्ता को मानता है, और उसे गुणो का सहारा या आश्रय बताता है। प्रकटनवाद कहता है कि द्रव्य केवल प्रकटनो के समूह का नाम है। जैसा हम आगे देखेगे, कुछ प्रकटनवादी केवल प्रकृति को, और कुछ प्रकृति और पुरुष दोनो को प्रकटनो मे बदल देते है। बहुमत के अनुसार द्रव्य और गुण दोनो का अस्तित्व है; द्रव्य मुख्य है, और गुण गौण है।

(२) मै तो चेतन हू। कागज भी चेतन है या जड़ है ? मै चेतन और जड मे भेद करता हूं, और कहता हूं कि जड़ और चेतन मे जाति भेद है। तत्व-ज्ञान इस दावे को भी जाच किये बिना स्वीकार नही करता, इस विवाद में, निम्न मन्तव्य प्रस्तुत किये गये है :—

(१) सत्ता वास्तव मे दो प्रकार की है, सहज-बोध की धारणा ठीक है। यह 'द्वैतवाद' है।

(२) सत्ता मे जाति-भेद नही, यह सब एक प्रकार की है। चेतन और अचेतन का भेद आभास-मात्र है। यह सारा 'अद्वैतवाद' है।

अद्वैतवाद को प्रकृति और पुरुष मे चुनना पडता है। 'प्रकृतिवाद' प्रकृति को अकेली सत्ता बताता है, और चेतना को इसके परिवर्तन का फल समझता है। एक और दल सारी सत्ताओ को चेतन या चेतना के रूप मे देखता है। इनका मत 'आत्मवाद' है। अद्वैतवाद का एक तीसरा रूप भी है। यह प्रकृति और पुरुष दोनो को गुणों का पद देता है, और इन दोनो का अधिष्ठान एक ऐसी सत्ता को बताता है, जो एक ओर से चेतन और दूसरी ओर से अचेतन दिखायी देती है।

(३) मैं यह पुस्तक अन्य मनुष्यो के लिए लिखता हू। मुझे यह कैसे मालूम है कि मेरे सिवाय अन्य मनुष्य भी है, और मै उनसे सम्पर्क मे आता हू ? स्वप्न मे मुझे ऐसा ही भासता है। यह भी तो सम्भव है कि मेरा सारा जीवन एक निरन्तर स्वप्न हो। यह सन्देह 'एकवाद' और 'अनेकवाद' के विवाद को जन्म देता है। 'एकवाद' के अनुसार सारी सत्ता एक चेतन की है, 'अनेकवाद' अनेक चेतनो की सत्ता मे विश्वास करता है।

(४) अनेकवाद के लिए एक समस्या यह है कि यदि सारे चेतन स्वतन्त्र द्रव्य है, तो वे एक दूसरे के सम्पर्क मे कैसे आ सकते है ? यदि मेरे ज्ञान की दुनिया मेरे पडोसी के ज्ञान की दुनिया से सर्वथा भिन्न है, तो हम दोनो के लिए कोई साझी भूमि है ही नही। लाइबनिज ने कहा कि ऐसा सम्पर्क होता ही नही, प्रत्येक मनुष्य का सारा ज्ञान आत्म-ज्ञान ही है।

(५) गद्याश के अन्तिम भाग मे हित और अहित, कर्तव्य और अकर्तव्य, की बाबत कहा है। यहा हम मूल्य के प्रत्यय को ले आते है। प्रश्न उठता है कि मूल्य वास्तव मे पदार्थो मे विद्यमान है, या केवल हमारा निरूपण ही है ? कुछ लोग कहते है कि सौन्दर्य अपने आप मे मूल्यवान है, कोई मनुष्य भी इसके मूल्य को न पहचाने, तो भी यह मूल्य-वान ही होगा। इसके विपरीत, दूसरे कहते है कि हम किसी वस्तु को उसके सौन्दर्य के कारण पसन्द नही करते, अपितु इसे पसन्द करते है, और इस पसन्द के कारण, इसे सुन्दर कहते है।

कर्तव्य के सम्बन्ध मे तत्व-ज्ञान कई प्रश्न खडे करता है। कर्तव्य कर्म मे कर्ता की स्वाधीनता स्वीकार की जाती है। स्वाधीनता कहीं है भी, या नियम का राज्य व्यापक है ? काट ने कहा था, शेष सारे पदार्थ नियम के अधीन कार्य करते है; मनुष्य

नियम के प्रत्यय के अधीन काम कर सकता है। क्या यह तथ्य है, या कल्पना ही है ?

फिर कर्तव्य मे समाज-हित को ध्येय बनाया जाता है। यह समाज क्या है ? क्या व्यक्ति के लिए अपने हित से परे जाना सम्भव है ? और यदि सम्भव है, तो ऐसा करना उचित है या नही ?

एक अल्प गद्याश के विश्लेषण ने हमे कई दार्शनिक प्रश्नो से परिचित कर दिया है। अगले पृष्ठो मे हम इनकी बाबत पढेगे।

५. पश्चिमी दर्शन : ऐतिहासिक दृष्टि

तत्व-ज्ञान के प्रमुख प्रश्नो से परिचित होने का एक सरल तरीका यह है कि हम इसके इतिहास पर दृष्टि डाले। दर्शन-शास्त्र का इतिहास मानव के दार्शनिक विवेचन की कथा ही है। पश्चिमी दर्शन के इतिहास की एक खूबी यह है कि हम इसमे एक नियमित उत्थान देखते है।

इस इतिहास को प्राय: तीन भागो मे बाटा जाता है :—

(१) प्राचीन तत्व-ज्ञान

(२) मध्यकालीन तत्व-ज्ञान

(३) नवीन तत्व-ज्ञान

कुछ लोग मध्यकालीन तत्व-ज्ञान को प्राचीन और नवीन काल मे मेल करने वाली कड़ी समझते है; और इतिहास के दो भागो को ही महत्व देते है। प्राचीन काल मे जो स्वतन्त्र विचार हुआ, वह यूनान मे हुआ। रोम का विचार यूनान के विचार पर आधारित था। आधुनिक काल मे, योरोप के महाद्वीप मे कई स्थानो मे विवेचक प्रकट हुए। इस ख्याल से पश्चिमी दर्शन के इतिहास को यूनानी और यूरोपीय दो भागो मे बाटा जाता है।

दार्शनिक विचार के तीन विषय है—बाह्य जगत, जीवात्मा, और परमात्मा। तत्व-ज्ञान इन्हे और इनके आपस के सम्बन्ध को समझना चाहता है। मनुष्य के मन की बनावट कुछ ऐसी है कि वह इन सम्बन्धो को जोडो मे देखता है। प्राचीन यूनान मे लोग जानना चाहते थे कि प्राकृत जगत कहा से आया, कैसे आया, और क्यो आया ? आरम्भ मे, विचारको ने जगत के मूल-तत्व को इसके किसी अंश मे देखा। किसी ने जल को, किसी ने आकाश को, किमी ने अग्नि को मूल-कारण बताया। रौनक्सेगोरस ने कहा कि मूल-कारण को प्रकृति मे ढूढना व्यर्थ है ? इसके लिए चेतन शक्ति की आवश्यकता है। इस विशेषता के कारण ही, पीछे अरस्तू ने कहा कि सारे अन्धो मे केवल

रौनक्सेगोरस ही एक देखने वाला था। इसके पीछे यूनान में प्रमुख प्रश्न विश्व और इसके चेतन मूल-कारण के सम्बन्ध को समझना हो गया।

मध्यकाल में प्रमुख प्रश्न आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बना। विचारकों के मन अफलातू और अरस्तू के प्रभाव मे थे। ईसाई मत को भी वे स्वीकार कर चुके थे। उनका यत्न यह था कि बाइबिल की शिक्षा को इन दार्शनिकों की शिक्षा के अनुकूल सिद्ध करे। एक जकड़ मे ही, विचार अपनी स्वाधीनता खो देता है; यहां तो दो जकडे विद्यमान हो गयी। इसका फल यह हुआ कि मध्यकाल का दर्शन अल्प मूल्य का समझा जाता है। इसमे विचार की स्वतन्त्रता बहुत कम है।

नवीन काल का आरम्भ १५वी शती से होता है। इस युग का प्रमुख चिह्न विचार की स्वाधीनता है। तत्व-ज्ञान को धर्म से अलग किया गया, और अफलातू और अरस्तू को भी आलोचन का विषय बना दिया गया। इस मनोवृत्ति को मान्य बनाने मे बेकन का बडा हाथ था। बेकन का मौलिक सिद्धान्त यह था—'वास्तविकता को देखो, अपनी कल्पना से आरम्भ न करो।' अरस्तू ने कहा था कि नक्षत्र सूर्य के गिर्द वृत्त मे घूमते है, क्योकि वृत्त ही त्रुटि-रहित आकार है। बेकन ने कहा—'वृत्त त्रुटि-रहित आकार है या नही; और नक्षत्र अपनी गति मे त्रुटि-रहित चक्कर काटते है या नही ? इन बातो को अलग रहने दो; देखो कि तथ्य क्या है।' परीक्षण अनुसन्धान मे प्रमुख क्रम बना। जान लाक ने वर्षों अपनी मानसिक अवस्थाओ का परीक्षण करके, अपनी विख्यात पुस्तक लिखी।

इस मनोवृत्ति को सशक्त बनाने के साथ, नवीन विचार मे दृष्टि-कोण का परिवर्तन भी हुआ। प्राचीन और मध्यकाल के विवेचन का प्रमुख विषय तत्व का स्वरूप था। नवीन विचारको ने कहा—'पहले यह जानने का यत्न करना चाहिए कि हमारे ज्ञान की सीमाएं क्या हैं। ज्ञान-मीमासा ने दार्शनिक विचार मे प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। इस तरह, नवीन काल मे, पुरुष और प्रकृति का सम्बन्ध प्रमुख प्रश्न बन गया है।

६. भारतीय दर्शन

भारत के दर्शन और पश्चिमी दर्शन में एक बड़ा भेद है। पश्चिम मे दार्शनिक विचार एक धारा मे बहे हैं। वहा के इतिहास मे हम देखते है कि किस तरह एक पग के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा पग उठता है। भारत मे विचार एक धारा में नही, कई धाराओ मे बहे है। इसलिए हम, शब्दों के साधारण अर्थ मे, भारत के दर्शन-शास्त्र का इतिहास नही लिख सकते; दर्शन की विविध शाखाओं पर निबन्ध

लिख सकते है। यदि दार्शनिक उत्थान की बाबत कुछ कह सकते है, तो शाखाओ के सम्बन्ध मे कह सकते है।

भारत के दर्शन में भी तीन युग प्रमुख हैं। पहले युग में धर्म, तत्व-ज्ञान और नीति मिश्रित मिलते हैं। तर्क की अपेक्षा कविता और उपमा पर अधिक बल दिया जाता है। उपनिषदों में जो कहना होता है, कह दिया जाता है; वाद-विवाद को परे रखा जाता है। दूसरा युग तत्व-ज्ञान की शाखाओ का है। इनमे बहुधा तर्क की प्रधानता है। तीसरे युग मे, स्वतन्त्र विचारो का स्थान भाषा और टीकाओ ने ले लिया है। हमारे लिए छः दर्शनो का विशेष महत्व है। जब हम इन पर सामान्य दृष्टि डालते है, तो कुछ चिह्न स्पष्ट रूप में हमारे सम्मुख आते है :—

(१) भारत मे दर्शन-शास्त्र के लिए ज्ञान नही, आत्म-सिद्धि महत्व की वस्तु है। इस सिद्धि की बाबत कुछ मतभेद होता है, परन्तु अन्तिम ध्येय यही है।

साख्य दर्शन की प्रमुख पुस्तक 'साख्यसप्तति' की पहिली कारिका इस तरह आरम्भ होती है—'तीनो प्रकार दुःख चोट लगाता है। इसलिए, उसको नाश करने वाले कारण की जिज्ञासा होती है।'

साख्यसूत्रो मे भी पहला सूत्र कहता है—'इस शास्त्र मे, तीन प्रकार के दुःखो की अत्यन्त निवृत्ति को परम पुरुषार्थ कहते हैं।'

दुःख की अत्यन्त निवृत्ति के लिए प्रकृति और पुरुष मे भेद करना अनिवार्य साधन है। योग दर्शन मे आत्मा और परमात्मा का संयोग परम लक्ष्य है। उसके लिए तीन प्रकार के साधन बताये गये है :—

नैतिक संयम (यम, नियम)

शारीरिक संयम (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार),

मानसिक संयम (धारणा, ध्यान, समाधि)।

यहा भी उद्देश्य व्यावहारिक ही है।

कुछ विदेशी विचारक आक्षेप करते है कि भारतीय दर्शन ससार को दुःखमय समझता है, और इसलिए अभद्रवादी है। यह आक्षेप निराधार है। भारत का दर्शन-शास्त्र दुःख के अस्तित्व की ओर से आख बन्द नही करता; इसे एक विकट तथ्य स्वीकार करता है। परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि इस दुःख से छुटकारा पाना सम्भव है, और ऐसे परिणाम के लिए साधन बताता है। ऐसे मन्तव्य को अभद्रवाद कहना अनुचित है।

(१) जैसा हमने देखा है, पश्चिम मे प्राचीन और मध्यकाल में तत्व का स्वरूप जानना मुख्य प्रयोजन था; नवीन काल में ज्ञान-मीमांसा की ओर ध्यान फिरा।

भारत में, ज्ञान-मीमांसा को आरम्भ से ही दर्शन शास्त्र का अंग समझा गया है। सत्यासत्य की परख की कसौटी को 'प्रमाण' कहते हैं। लगभग सभी शाखाओं में 'प्रमाण' विचार का विषय है। इस पक्ष में, भारत के विचारकों ने पश्चिमी विचारकों की अपेक्षा, एक महत्व के रहस्य को बहुत पहले समझ लिया था।

(३) जब हम प्रमाणों की बाबत भिन्न शाखाओं के मत को देखते हैं, तो 'शब्द-प्रमाण' को सब में मौजूद पाते हैं। शब्द-प्रमाण से अभिप्राय श्रुति या वेद से है। अन्तिम उद्देश्य मोक्ष है। इस तरह, भारत में तत्व-ज्ञान धर्म से जुड़ा हुआ है। यहां ज्ञान के महत्व को पश्चिम की अपेक्षा बहुत बढ़ाया है। गीता में कहा है कि ज्ञान के सदृश कोई वस्तु पवित्र करने वाली नहीं। पश्चिम में, सुकरात ने ज्ञान को शुद्ध आचार से मिला दिया था; पीछे स्पीनोजा ने भी दार्शनिक विचार को परमात्मा का 'बौद्धिक प्रेम' कहा; परन्तु अब बहुत थोड़े दार्शनिक गीता की धारणा को अपनाने के लिए तैयार हैं।

ज्ञान-मीमांसा

पिछले अध्याय मे हमने तत्व-ज्ञान की बाबत कुछ सामान्य विवरण के रूप मे कुछ कहा है। आने वाले पृष्ठो मे इसके विविध भागो पर विस्तार से कहेगे। पश्चिम मे ज्ञान के तत्व को अनुसन्धान का विशेष विषय बनाया गया है। यहा हम इस विषय की ओर साधारण संकेत ही कर सकते है।

वर्तमान अध्याय में, निम्न प्रश्नो का उत्तर देने का यत्न किया जायगा :—

(१) ज्ञान का अभिप्राय या अर्थ क्या है?
(२) क्या ज्ञान की प्राप्ति हमारी पहुच मे है?
(२) ज्ञान के मौलिक रूप क्या है?
(४) ज्ञान प्राप्त कैसे होता है?
(५) ज्ञान मे सत्य और असत्य का भेद कैसे किया जाता है?
(६) क्या हमारा ज्ञान किन्ही सीमाओ मे बन्द है? यदि बन्द है, तो वह सीमाए क्या है?

१. ज्ञान क्या है?

हम अपने अनुभव से आरम्भ करते है, और इसका समाधान करना चाहते है। अनुभव मे, ज्ञान के साथ, भाव और क्रिया भी सम्मिलित है। सारा ज्ञान भी एक प्रकार का नही होता। मै एक कहानी पढता हू। मै जानता हू कि कहानी लिखने वाला कल्पित पुरुषो की बाबत कह रहा है; और जो कुछ वह कहेगा, वह किसी विशेष पुरुष की बाबत सत्य नही होगा, परन्तु मानव-प्रकृति के अनुकूल ही होगा। मै किसी झिझक के बिना, लेखक के कथन को यथार्थ फर्ज कर लेता हू। यदि लेखक इतिहास लिख रहा है, तो मै आशा करता हू कि जो कुछ वह तथ्य के रूप मे प्रस्तुत करता है, वह सत्य ही होगा। जहा मुझे उसके कथन मे त्रुटि दिखायी देती है, वहा स्वीकृति का स्थान सन्देह ले लेता है। जब मै गणित पर पढता हू, तो फर्ज करने या तथ्य की

स्वीकृति-अस्वीकृति का प्रश्न नही होता, वहा तो देखना होता है कि जो कुछ लेखक कह रहा है, वह युक्ति-युक्त है, या नही ।

जब हम कहते हे कि हम किसी तथ्य या सम्बन्ध की बाबत जानते हे, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि हमारा बोध सन्देह से खाली है, और हम अपने व्यवहार को उस पर आधारित कर सकते है। कभी-कभी यह विश्वास निराधार होता है। ऐसी हालत मे हमारा ज्ञान मिथ्या-ज्ञान होता है। योग-दर्शन मे इसे विपर्य्यय का नाम दिया गया है।

मनोवैज्ञानिक कहते है कि हमारा सारा बोध परिवर्तन का बोध होता है। सत्य-ज्ञान और मिथ्या-ज्ञान एक दूसरे के अभाव मे सम्भव ही नही। हमारी साधारण अवस्था विश्वास की होती है। जब किसी कारण से इस विश्वास को चोट लगती है, तो हम इसकी जाच करने लगते है, इस आशा से कि हम पहले विश्वास के स्थान मे किसी नये विश्वास को स्थापित कर सकेगे, और उसे व्यवहार का आधार बनाने मे पहिली कठिनाई नही होगी। पक्षी की उडान विश्राम के एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुचने के लिए होती है। इसी तरह चिन्तन या विचार ऐसी अवस्था है, जो हमें त्याज्य विश्वास से किसी अन्य विश्वास तक पहुंचाती है, जहा हम अपने आपको सुरक्षित पाते है। ऐसा विश्वाम सत्य हो या न हो, हमे उस समय के लिए ज्ञान दिखायी देता है।

२ क्या ज्ञान की प्राप्ति हमारी पहुच में है ?

१. नवीन वस्तुवाद

जैसा अभी कहा गया है, मिथ्या-ज्ञान होने पर हम सत्य और असत्य मे भेद करते है। योग-दर्शन के शब्दो मे, 'जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ रूप मे स्थिर नही, उसे विपर्य्यय या मिथ्या-ज्ञान कहते है।' ऐसी हालत में हम, एक वस्तु को कोई अन्य वस्तु समझ लेते है, और समय बीतने पर हमे अपनी भूल का पता लग जाता है। हम किसी निर्जन स्थान मे भटक रहे है, और प्यास से व्याकुल है। हमे दूर मे चमकती हुई वस्तु दिखायी देती है, और हम उसे जल समझ कर उधर चल पडते है। वहा पहुंच कर पता लगता है कि चमकीली वस्तु रेत थी, पानी न था। कैसे पता लगता है? हाथ डालते है, तो यह आसानी से उसमें घुस नही सकता; न गीला होता है। मुह मे डालते है, तो ठोस जर्रे जीभ से लगते है। आख ने कहा था—'पानी है'; त्वचा कहती है—'रेत है।' हम त्वचा की साक्षी को मान्य समझते है। यह भी आवश्यक नही कि हम आप वहां पहुंच कर पानी और रेत के दर्मियान निर्णय करें। कोई और पुरुष उधर से आता है, और

कहता है कि वह उस स्थल पर से चल कर आया है, पानी पर तो चल नही सकता था। ऐसे भ्रम में एक पदार्थ को कोई दूसरा पदार्थ समझ लिया जाता है। एक और प्रकार के मति-भ्रम मे बाहर पदार्थ होता ही नही, और हमारी कल्पना छाया को वास्तविक सत्ता का रूप दे देती है। जिस पुरुष ने हत्या की हो, उसे यही प्रतीत होता है कि उसका पीछा हो रहा है। शेक्सपियर के नाटक 'मैक्बेथ' मे लेडी मैक्बेथ को यही मालूम होता है कि रक्त के निशान समुद्र भर के पानी से धुल नही सकते। स्वप्न मे हम सब कल्पना की दुनिया को प्राकृत दुनिया समझते है। जब जागते है तो अपने आप को फिर स्थायी, वास्तविक दुनिया मे पाते है।

इस तरह हमें माया या भ्रम की बाबत पता लगता है। और हम सत्यासत्य मे भेद करते है।

जैसा हम कह चुके है, तत्व-ज्ञान किसी धारणा को फर्ज करके नही चलता, यह प्रत्येक धारणा की जाच करता है। जरा देखे कि ऊपर के विवरण मे, हमने बिना जाचे कुछ स्वीकार तो नही कर लिया।

आख ने कहा था—'चमकीली वस्तु जल है।' त्वचा ने कहा—'रेत है।' हमने त्वचा की साक्षी को अधिक महत्व दिया। ऐसा क्यो किया? तत्व-ज्ञान तो यह नही बताता कि ज्ञान देने मे, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय की अपेक्षा सदा अधिक विश्वास की पात्र है।

हमारे देखने और स्पर्श करने का समय एक न था। हमे यह कैसे मालूम है कि जो कुछ हमने देखा, उसी को पीछे स्पर्श किया? यह भी तो सम्भव है कि हमने जो कुछ देखा, वह जल था, अन्तर मे जल तो समाप्त हो गया, और उसके स्थान में रेत प्रस्तुत हो गयी। हमारे ज्ञान का विषय एक न था; दो थे। यदि ऐसा है, तो भ्रम का प्रश्न ही नही उठता।

इस समाधान मे एक कठिनाई रह जाती है। जिस वस्तु को मै पानी देखता हू, उसे अन्य मनुष्य रेत पाते है। मेरा ज्ञान उनके ज्ञान के प्रतिकूल है। यहां हम फर्ज कर रहे है कि सब मनुष्यो की दुनिया साझी और स्थायी है। यह भी तो जांच करने की धारणा है। यदि हम सबकी दुनिया एक ही साझी दुनिया नही, अपितु हर एक अपनी निजी दुनिया में रहता है, तो मतभेद का कोई अवकाश नही रहता; और सत्य-असत्य का भेद भी मिट जाता है।

बर्ट्रैण्ड रस्सल का ख्याल है कि जिन इन्द्रिय-उपलब्धों से बाहर की दुनिया बनी है, वह सबके सांझे नही, और संभवतः अनुभव की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते है। स्थायी और साझी दुनिया के ख्याल को मन से निकाल दें,

तो सारा ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही बन जाता है; और यथार्थ-अयथार्थ का भेद मिट जाता है।

स्वप्न की हालत मे भी, हम फर्ज करते है कि जिस दुनिया मे हम स्वप्न के पूर्व और पीछे रहते है, उसी मे हम स्वप्न के समय भी विद्यमान थे, और भ्रम मे इधर-उधर घूमते रहे। यह भी स्वयं-सिद्ध नही। यह सम्भव है कि हम स्वप्न और जाग्रति मे दो विभिन्न जगतो मे रहते है, और इन दोनो का कभी मेल नही होता।

इस विचार के अनुसार सत्य और असत्य का भेद किसी पक्की नीव पर स्थिर नही।

२. सन्देहवाद

जैसा हम कह चुके है, प्राचीन यूनान मे प्रमुख दार्शनिक प्रश्न प्राकृत जगत का समाधान था। रौनक्सेगोरस ने कहा कि इस समाधान के लिए बुद्धि की शरण लेनी चाहिए। उसका अभिप्राय यह था कि विश्व मे एक चेतन शक्ति विद्यमान है। साफिस्ट सम्प्रदाय ने इस शक्ति का स्थान व्यक्ति की बुद्धि को दिया। 'मनुष्य सभी वस्तुओ का मापक है।' जो कुछ मुझे प्रतीत होता है, वह मेरे लिए सत्य है, जो कुछ मेरे पड़ोसी को प्रतीत होता है, वह उसके लिए सत्य है, ज्ञान व्यक्ति की सम्मति से भिन्न कुछ नही।

इस विचार के विरुद्ध सुकरात ने बलपूर्वक कहा, परन्तु सन्देहवाद समय-समय पर प्रकट होता ही रहा है। सन्देहवाद अपने पोषण मे निम्न बातो पर जोर देता है :—

(१) मेरी ज्ञानेन्द्रियो मे एक की साक्षी दूसरी की साक्षी के प्रतिकूल होती है।

(२) जो कुछ मुझे प्रतीत होता है, वह मेरी शारीरिक और मानसिक अवस्था, मेरी स्थिति और मेरे वातावरण पर निर्भर होता है। इन तीनो मे से किसी मे परिवर्तन हो, तो मेरे ज्ञान मे भी परिवर्तन हो जाता है।

(३) जो कुछ एक मनुष्य को भासता है, वह दूसरे को नही भासता। दार्शनिको मे भी बहुत मतभेद होता है, कोई सिद्धान्त ऐसा नही, जिसका मण्डन और खण्डन करने वाले मौजूद नही।

सम्मतियो के इतने विरोध को देखते हुए, हम यही कह सकते है कि हम सत्ता के स्वरूप की बाबत कुछ नही जानते। तत्व-ज्ञान का यत्न एक अन्धे का यत्न है, जो अन्धेरे कमरे मे, किसी काली बिल्ली को, जो वहा मौजूद ही नही, देखना चाहता है।

प्राचीन काल मे पिर्हो का नाम और नवीन काल मे डेविड ह्यूम का नाम सन्देहवाद के साथ विशेष रूप मे सम्बद्ध है।

पिर्हो के अनुसार, किसी मुनि के लिए निम्न प्रश्नो का उत्तर ढूढना आवश्यक है :—

(१) सासारिक सत्ता क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ?

(२) इस सत्ता के साथ हमारा सम्बन्ध क्या है ?

(३) इसकी ओर हमारी मनोवृत्ति कैसी होनी चाहिए ?

पहले प्रश्न के सम्बन्ध मे, पिर्हो ने कहा कि हम सत्ता के स्वरूप की बाबत कुछ नही जानते।

दूसरे की बाबत कहा कि हममे हर एक सत्ता की बाबत अपनी राय बनाता है, इससे परे नही जा सकता।

तीसरा प्रश्न पिर्हो की दृष्टि मे विशेष महत्व का प्रश्न है। सन्देहवादी को भी जीवन व्यतीत करना ही होता है। वह अपने लिए व्यवहार-पथ कैसे चुने ?

सारी क्रिया इच्छा का फल होती है। मै किसी वस्तु की इच्छा इसलिए करता हू कि उसे अन्य वस्तुओ से, जो मेरी पहुच मे है, अधिक मूल्यवान समझता हू। सन्देह-वादी मुनि की समझ मे आ गया है कि हम वस्तुओं का मूल्य लगाने मे, अपनी निजी राय कायम करते है, जो सर्वथा सन्देह-युक्त होती है। हमे कभी निश्चय रूप से पता नही लग सकता कि हमारी राय ठीक है। ऐसी स्थिति मे, मुनि पदार्थों मे प्रीति और अप्रीति दोनो को छोड देता है। अनुराग को छोड देने पर, उसकी क्रिया आप ही घटने लगती है। आदर्श तो अकर्म है, परन्तु सम्पूर्ण अकर्म सम्भव नही। इसलिए, मुनि वही कुछ कहता है, जिसका करना अनिवार्य होता है। सामाजिक जीवन मे वह लोकाचार और राज्य-नियम पर चलता है, परन्तु यह नही समझता कि यह व्यवहार सर्वश्रेष्ठ है। श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ के भेद के लिए सन्देहवाद मे कोई स्थान ही नही।

सन्देहवादी कहता है—'मै कुछ नही जानता, न कुछ जान सकता हू।' इस निर्णय की कमजोरी कुछ सन्देहवादियो पर तुरन्त स्पष्ट हो जाती है, और वह इस को एक नया रूप देते है . 'मै यह नही जानता कि मै कुछ जानता हू, या नही जानता।' यह हीला उनकी सहायता नही कर सकता। जो कुछ वे अब कहते है, वह भी तो एक निर्णय है, जिसे वे असन्दिग्ध स्वीकार करते है। वास्तव मे सन्देहवादी का कथन यह है कि जो कुछ वह अब कह रहा है, वह तो सत्य है, इसके अतिरिक्त कोई वाक्य भी असन्दिग्ध नही। यह दावा स्पष्ट रूप मे निरर्थक है। सन्देहवादी को अकर्म के साथ, पूर्ण मौन भी अपना ध्येय बनाना चाहिए। जब भी वह कुछ कहता है, अपने सिद्धान्त का खण्डन करता है।

ह्यूम ने भी तत्व-ज्ञान पर कड़ा प्रहार किया। मै बाह्य पदार्थों मे गुणो का भेद

करता हूं। इसी तरह मै उन्हे एक दूसरे से अलग कर सकता हू। यह गुण दो प्रकार के होते है—प्रधान और गौण। रूप, रस आदि गौण गुण कहलाते है; परिमाण, आकृति, गति-अगति मुख्य गुण कहलाते है। ह्यूम से पहिले, बर्कले ने कहा था कि यह गुण बाह्य पदार्थों में नहीं होते। हमारे मन की अवस्थाएं है। ह्यूम ने इसे स्वीकार किया। यदि ऐसा ही है, तो बाहर तो कुछ है ही नही, हम बाहर के पदार्थों मे भेद क्या करेंगे ? ह्यूम सामान्य-बोध से उसके दृष्ट जगत को छीन लेता है।

विज्ञान कारण-कार्य सम्बन्ध पर आश्रित है। ह्यूम कहता है कि जब हम बार-बार एक घटना को दूसरी घटना के पीछे आती देखते है, तो उन्हे कारण-कार्य के रूप मे देखने लगते है। यह सम्बन्ध वास्तव में बाह्य जगत मे विद्यमान नही; हमारी आदत इसकी रचना करती है। हमारा अनुभव सीमित है। यह आवश्यक नही कि जो कुछ अब तक होता रहा है, आगे भी होता रहे। विज्ञान का कोई निर्णय भी पूर्ण रूप से निश्चित नही होता।

तत्व-ज्ञान मे प्रमुख प्रत्यय द्रव्य का है। ह्यूम ने इसको भी सन्देह से आच्छादित कर दिया। हमे गुणो का ज्ञान होता है। वास्तव मे वे एक दूसरे मे असम्बद्ध होते है, हमारी कल्पना उन्हे गठित समझती है, और हम द्रव्य का जिक्र करने लगते है।

३. ज्ञान के मौलिक रूप

ज्ञान के दो मौलिक रूप है. प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। अप्रत्यक्ष ज्ञान में अनुमान का अश भी होता है। यह क्रिया स्मृति की सहायता से हो सकती है। मै दूर से चमकीलापन देखता हू, और कहता हूं कि वहा रेत है। मैने रेत को पहिले भी देखा है, और विविध ज्ञानेन्द्रियो ने मुझे विविध गुणों का बोध कराया है। मै इस समय की देखी हुई चमक को पहिले देखी हुई चमक के समान पाता हूं, और अनुमान करता हू कि जो अन्य गुण, पूर्व अवसरो पर, इस चमक के साथ विद्यमान थे, वे अब भी विद्यमान है। मै रेत को देख रहा हूं।

प्रत्यक्ष मे हम इन्द्रिय-उपलब्धो और अपनी मानसिक अवस्थाओ को देख सकते है। इनकी स्मृति भी हमे स्पष्ट दिखायी देती है। साधारण बातचीत मे हम कहते है कि हम फल को देखते है। आख बन्द करके किसी वस्तु को छुएं तो उसे भी पहचान लेते है। इन हालतो मे, हमे किसी अकेले गुण का नही, अपितु किसी पदार्थ का बोध होता है। जन्म के समय बच्चे का ज्ञान कुछ ही हो, बड़ों का ज्ञान निरे गुणों का बोध नही होता; पदार्थों का बोध होता है। कुछ विचारकों के अनुसार अब हमारा सारा ज्ञान अप्रत्यक्ष है, क्योंकि इसमें अनुमान का अंश मिला होता है।

डेकार्ट के विचारानुसार हमे अपनी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में होता है। अन्य विचारक कहते है कि हमे प्रत्यक्ष ज्ञान तो मानसिक अवस्थाओं का होता है, आत्मा को हम इन अवस्थाओ का आश्रय समझते है। यह प्रत्यक्ष का नही, अनुमान का विषय है।

अन्य आत्माओ का बोध हमे कैसे होता है ? हम उनका साक्षात् दर्शन नही कर सकते। हमारे शरीर की बनावट और उसकी क्रियाए कुछ अन्य शरीरो की बनावट और उनकी क्रियाओ से मिलती है। हम समझते है कि हमारी तरह, उन शरीरो की क्रियाए भी आत्मा की प्रेरणा का फल है। बच्चा स्वभाव से समझता है कि अन्य पदार्थ भी उसकी तरह चेतन प्राणी है। पीछे कुछ पदार्थो को चेतन प्राणियो की सूची से निकालने लगता है। उसके हाथ से खिलौना गिर पडता है, और वह रोने लगता है। खिलौना उठ कर उसके हाथ मे नही आता। माता आती है, और खिलौने को उठा कर उसके हाथ मे दे देती है। माता का व्यवहार खिलौने के व्यवहार से भिन्न है। बच्चा न जाने हुए, इस सूत्र का प्रयोग करता है—'जो कुछ मेरी परवाह करता है, उसमे मन है, जो मेरी परवाह नही करता, उसमे मन नही।'

प्रत्यक्ष ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय का स्पष्ट सम्बन्ध है। यह डेकार्ट का मत था। 'न्याय दर्शन' मे भी यही सिद्धान्त है। इस दर्शन मे, प्रत्यक्ष के तीन लक्षण बताये गये है —

(१) ऐसा ज्ञान सन्देह-युक्त नही होता।

(२) इसमे किसी प्रकार की भ्रान्ति नही होती।

(३) यह किसी शब्द का अर्थ नही होता, अपितु इन्द्रियो और उनके विषय का सीधा सम्पर्क होता है।

जब हम किसी पदार्थ को देखते है, तो कभी-कभी निश्चय से नही कह सकते कि वह क्या है। जो कुछ हम देख रहे है, वह वृक्ष का सूखा तना है, या मनुष्य है ? कभी उसे तने के रूप मे देखते है कभी मनुष्य के रूप मे, परन्तु यह नही होता कि उसमे मनुष्य और वृक्ष दोनो के अशो को मिला हुआ देखे। जब तक सन्देह की अवस्था बनी रहती है, हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता।

सन्देह दूर हो जाने पर भी सम्भव है कि हमारा ज्ञान सत्य ज्ञान न हो। वास्तव मे वहा वृक्ष का तना हो, और हम उसे भ्रान्ति मे मनुष्य समझे। ऐसा मिथ्या-ज्ञान भी प्रत्यक्ष नही।

प्रत्यक्ष ज्ञान का तीसरा लक्षण यह है कि वह अशाब्द हो। 'गौ' शब्द को सुन कर हमारे मन मे एक पशु का चित्र प्रस्तुत हो जाता है। यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, क्योंकि गौ दृष्टि-क्षेत्र मे मौजूद ही नही।

जहा किसी शब्द का अर्थ समझ कर हमे किसी वस्तु का ज्ञान होता है, वहा ज्ञाता और ज्ञेय के अतिरिक्त, चिह्न या सकेत भी विद्यमान हो जाता है, और ज्ञान दो पदार्थों का नही, अपितु तीन पदार्थो का सम्बन्ध दिखायी देता है।

अमेरिका के दार्शनिक चार्ल्स पीअर्स का ख्याल है कि हमारा सारा ज्ञान किसी चिह्न की व्याख्या ही होता है। इसका अर्थ यह है कि सारा ज्ञान अप्रत्यक्ष है, और इसमे ज्ञाता, ज्ञान का विषय, और इसका कोई चिह्न सम्मिलित होते है। आम ख्याल के अनुसार, मै फूल को देखता हू। पीअर्स कहता है कि मे केवल रूप-रग देखता हू, और तुरन्त, इस गुण को कुछ अन्य गुणो का साथी समझ कर, फल का चिन्तन करता हू। ज्ञान-मीमासा मे पीअर्स ने चिह्नो की व्याख्या को केन्द्रीय स्थान दिया है।

चिह्न अनेक प्रकार के होते है। इनमे तीन प्रमुख है --

(१) वह चिह्न जो, कारण-कार्य सम्बन्ध की नीव पर, अपने अर्थ को समझाते है।

वृक्ष की टहनियो की गति को देखकर, हम जान लेते है कि वायु, किस दिशा मे, और कितने वेग से चल रही है।

(२) वह चिह्न जो समानता के कारण अपने अर्थ का सुझाव देते है।

गौ का चित्र देख कर, हमे गौ का ध्यान आता है।

(३) वह चिह्न जिन्हे व्यवहार मे विशेष पदार्थो का चिह्न स्वीकार कर लिया गया है।

शब्दो की बहु सख्या ऐसे चिह्नो मे आती है। आम और अगूर दो भिन्न फलो के नाम है। यह आवश्यक नही कि यह नाम फलो को, और इन फलो को ही, दिये जाते, दूसरी भाषाओ मे इनके अन्य नाम है।

४. ज्ञान प्राप्त कैसे होता है ?

ज्ञान से सत्य-ज्ञान अभिप्रेत है।

आरम्भ से ही विवाद इन्द्रियो और बुद्धि मे है। कुछ लोग कहते है कि हमारे सारे ज्ञान की नीव इन्द्रिय-जन्य बोध पर है, और यही बोध अन्त मे सत्यासत्य की कसौटी है। जो विचार परीक्षण की परख पर ठीक नही उतरता, उसकी कोई कीमत नही। वैज्ञानिक मनोवृत्ति का तत्व 'तथ्य' की प्रमुखता के सामने सिर नवाना है। इसके विपरीत, कुछ लोग कहते है कि बुद्धि के प्रयोग से ही हम सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर सकते है। अफलातू ने ज्ञान के तीन स्तरो की ओर संकेत किया है। जो कुछ मुझे मेरी इन्द्रिया बताती है, वह उस बोध मे, जो अन्य मनुष्य अपनी इन्द्रियों से प्राप्त

करते हे, भिन्न होता है। ऐसा ज्ञान प्रत्येक की निजी सम्मति का पद ही रखता है। इस बोध से ऊचे स्तर पर वह ज्ञान है, जिसमे युक्ति का प्रयोग होता है। ऐसे ज्ञान का विषय भी विशेष वस्तु या स्थिति होती हे, परन्तु बुद्धि का प्रयोग इसे निजी मम्मति से ऊपर उठा देता है। जब हम जल का विश्लेपण करके कहते है कि इसमें हाइड्रोजन और आक्सिजन सम्मिलित हे, तो यह कथन हमारी वैयक्तिक सम्मति ही नही होता, हम समझते हे कि जो कोई भी जल का विश्लेपण करेगा, इसी परिणाम पर पहुचेगा। सबसे ऊचे स्तर का ज्ञान मौलिक तत्व या तत्वो का ज्ञान है। यहा हम अनादि प्रत्ययो का दर्शन करते हे। यह दर्शन-शास्त्र है। अफलातू की राय मे, 'जीवन का मुकुट ज्ञान है, और ज्ञान का मुकुट तत्व-ज्ञान है।'

इग्लेंड के प्रमुख विचारको ने कहा कि हमारा सारा ज्ञान बाहर मे प्राप्त होता है, और इन्द्रिया उसका एकमात्र मौलिक साधन है। उन्होने बलपूर्वक 'अनुभववाद' का समर्थन किया। अनुभववाद के विरुद्ध 'विवेकवाद' ने कहा कि सारा ज्ञान मनन का फल है। लाइबनिज के विचारानुसार, एक मन किसी अन्य मन की बाबत न कुछ जान सकता है, न उसे कुछ बता सकता है, प्रत्येक के ज्ञान का स्रोत उसके अन्दर है। हमारा सारा ज्ञान आत्म-ज्ञान ही है। इन दोनो धारणाओ मे सत्य का अश है, परन्तु इसके साथ असत्य का अश भी मिला है। जर्मनी के दार्शनिक काट ने इन दोनो विरोधी विचारो का समन्वय किया, और कहा कि हमे ज्ञान की सामग्री बाहर से प्राप्त होती है, और हमारा मन उस सामग्री को विशेष आकृति देकर, उसे ज्ञान बना देता है। ईट, पत्थर, चूना, लोहा, लकडी आप ही भवन तैयार नही कर सकते। दूसरी ओर कोई यन्त्रकार सामग्री के बिना, छोटे से छोटा झोपडा खडा नही कर सकता। काट के विचार मे ज्ञान-भवन की स्थिति भी ऐसी ही है इन्द्रिया सामग्री देती हैं, मन उस सामग्री को भवन का रूप देता है। काट का मत 'आलोचनवाद' कहलाता है।

इन तीनो मतो के भेद को समझने के लिए, हम बेकन की एक दीप्तिमान उपमा को लेते है। बेकन कहता है कि कुछ मनुष्यो की वृत्ति चीटी की वृत्ति होती है, वे अपने लिए सामग्री को इकट्ठा करते रहते है। कुछ अन्य मनुष्यो की वृत्ति मकडी की वृत्ति होती है, वे अपने अन्दर से ही सामग्री निकाल कर जाला बुनते हे। कुछ लोग मधुमक्खी की भाति सामग्री अनेक फूलो से लेते है, और उसे अपनी क्रिया से शहद का रूप दे देते है। 'अनुभववाद' मन को चीटी के रूप मे देखता है; 'विवेकवाद' इसे मकड़ी के रूप मे देखता है, काट का 'आलोचनवाद' इसे शहद की मक्खी के रूप मे देखता है।

५. सत्य का स्वरूप

तत्व-ज्ञान का उद्देश्य सत्ता के सत्य-स्वरूप को जानना है। 'न्याय' और 'ज्ञान-मीमासा' बताते है कि सत्य क्या है।

मै कहता हू—'मै इस समय शोक-ग्रस्त हू।' यदि वास्तव मे मेरी अनुभूति शोक की है, तो मै सत्य कहता हू। यह कहना निरर्थक है कि मेरा मन शोक-ग्रस्त है नही, मुझे यो ही भासता है। भाव का तत्व अनुभूत होने मे ही है।

मै कहता हूं—'मेरे निकट कुर्सी पड़ी है।' मेरा साथी कहता है—'कुर्सी पडी नही, बकरी बधी है।' यह दोनो कथन एक साथ सत्य नही हो सकते। यह कैसे जानें कि इन दोनो मे कौन कथन सत्य है? या इनमे कोई भी सत्य है, या नही? साधारण मनुष्य भी कहेगा कि यदि बाह्य पदार्थ वास्तव मे कुर्सी है, तो मेरा कथन सत्य है; बकरी या कोई अन्य पदार्थ है, तो सत्य नही। इस विचार को 'यथार्थवाद' कहते है। इसके अनुसार, यदि मेरा विचार बाह्य पदार्थ का अनुरूपक (ठीक नकल) है, तो मेरा बोध सत्य-ज्ञान है, यदि उसका अनुरूपक नही, तो मिथ्या-ज्ञान है। यह समाधान बहुत सरल प्रतीत होता है, परन्तु इसमे एक कठिनाई है। मै कुर्सी को स्पष्ट देखता हू, या मेरा ज्ञान मेरे अनुभवो का बोध ही है? दार्शनिको का ख्याल प्राय: यह है कि पदार्थो की प्रतिमूर्तिया हमारे मन मे प्रस्तुत होती है; हमारा मन हमारे अन्दर है, और प्राकृत पदार्थ बाहर है। इनका सीधा सम्पर्क नही होता। यदि ऐसा है, तो प्रश्न यह रह जाता है कि प्रतिमूर्ति कुर्सी की ठीक नकल है, या नही। मुझे एक तस्वीर दिखायी जाती है, और पूछा जाता है कि यह तस्वीर अमुक पुरुष की है, या नही। मै कहता हू, 'मैने उस पुरुष को देखा नही, मै नही कह सकता।' यही स्थिति वर्तमान प्रश्न के सम्बन्ध मे है। यदि हम पदार्थो को साक्षात् देखे, तब तो उनके ज्ञान के साथ या असत्य होने का प्रश्न ही नही उठता, चूकि हम केवल उनके अनुरूपक को ही जानते है, हमारे लिए यह कहना सम्भव नही कि अनुरूपक ठीक नकल है, या नही। हमारे ज्ञान मे कोई अमानव अंश है ही नही, हम अमानवी वस्तुओ के स्वरूप की बाबत कुछ नही कह सकते।

यदि हमारा ज्ञान हमारे अनुभवो तक ही सीमित है, तो सत्यासत्य की कसौटी उनमे ही ढूढनी चाहिए। हर्बर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि गठन के दृष्टि-कोण से देखें, तो हमारा ज्ञान तीन प्रकार का है। सबसे निचले दर्जे का ज्ञान असम्बद्ध अंशो का समूह, होता है। विज्ञान का स्तर ऐसे ज्ञान से ऊचा है। विज्ञान का काम किसी विशेष क्षेत्र में तथ्यों को गठित करना है। तत्व-ज्ञान समस्त ज्ञान को व्यवस्थित करना चाहता है। जो निर्णय या वाक्य ज्ञान-व्यवस्था मे उसका अग बन सकता है, वह सत्य है;

जो ऐसा अग नही बन सकता, वह असत्य है। व्यवस्था या सगठन का अर्थ ही यह है। एक छोटा सा काटा मुझे चुभता है, और मुझे व्याकुल कर देता है, मेरे शरीर मे कितनी छोटी-बड़ी हड्डिया घुसी हुई है, और मुझे पीडा नही होती। हड्डिया मेरे शरीर का अंग बनी है; काटा ऐसा अंग नही बना। यही ज्ञानाशों की बाबत कह सकते है। इस विचार को 'अविरोधवाद' या 'अनुकूलतावाद' कहते है।

विज्ञान मे मत परिवर्तन होता रहता है। इसका कारण क्या है ? कुछ उदाहरण लेकर देखे।

पहिले समझा जाता था कि प्रकाश की किरणे सूर्य से चल कर हमारी आंखो पर आ पड़ती है; अब समझा जाता है कि आकाश मे तरंगे उठती है, और उनकी क्रिया के फलस्वरूप हम देखते है। पहिले समझा जाता था कि पृथिवी स्थिर है, और सूर्य इसके गिर्द घुमता है, अब समझा जाता है कि पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है। आइ-न्स्टाइन के विचारो ने न्यूटन की भौतिक विद्या को पुरानी बना दिया है। प्रत्येक हालत में कुछ ऐसे तथ्य दृष्टि मे आ जाते है, जिनकी मौजूदगी मे पुराना विचार ज्ञान-व्यवस्था का विरोधी दिखायी देता है, और उसे छोड दिया जाता है। जब तक हम स्वप्न की अवस्था मे रहते है, हमे उसमे कोई आन्तरिक विरोध दिखायी नही देता। जागरण के साथ इसका विरोध होता है, और इस विरोध के कारण हम स्वप्न को माया कहते है। स्वप्न की अवस्था मे, हमे स्वप्न निर्विरोध प्रतीत होता है।

सत्य के स्वरूप की बाबत एक तीसरा विचार मानसिक अवस्थाओ की दुनिया से निकल कर बाहर आता है, और क्रिया को इस विवाद मे प्रमुख स्थान देता है। इस मन्तव्य का जन्म अमेरिका मे हुआ, और वही इसका विकास हुआ। चार्ल्स पीअर्स (१८३९-१९१४) ने इसके लिए 'प्रैग्मेटिस्म' का नाम चुना। विलियम जेम्स (१८४१-१९१०) ने इसे सर्वप्रिय बनाया। जेम्स के अनुयायियो ने, जिनमे ड्युई का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है, इसका और प्रसार किया। पीअर्स वैज्ञानिक था, जेम्स मनोवैज्ञानिक था। दोनो के सिद्धान्त मे कुछ भेद हो गया। अपने विख्यात रूप में, 'प्रैग्मेटिस्म' जेम्स का ही सिद्धान्त है। हम इसे 'व्यवहारवाद' का नाम दे सकते है।

हमे सन्देह होता है कि एक बाह्य पदार्थ मनुष्य है, या वृक्ष का तना है। जेम्स कहता है कि इसका निर्णय करने का सरल तरीका है। देखो कि वह पदार्थ तुम पर क्या क्रिया करता है, और तुम उस पर क्या प्रतिक्रिया करते हो। यदि वह मनुष्य है, तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देगा, अपने स्थान से चल देगा, उस पर पत्थर फेकोगे, तो चिल्ला उठेगा। वृक्ष का व्यवहार इससे भिन्न होगा। उसके टुकडे को काट कर,

खाना पकाने के लिए बरतोगे, तो भी आपत्ति नही करेगा। जेम्स का विख्यात सूत्र यह है '—'जो कुछ व्यवहार में पूरा उतरता है, वह सत्य है, जो इसमे पूरा नही उतरता, वह असत्य है।'

जेम्स ने बुद्धि के महत्व को कुछ कम किया। जहा बुद्धि किसी धारणा को प्रमाणित कर सकती है, वहा बुद्धि का अधिकार है। विज्ञान मे इसका अधिकार है, परन्तु हमारे जीवन मे कुछ विश्वास ऐसे भी होते है, जिनकी बाबत बुद्धि निश्चय मे हमे नही बता सकती। ऐसे विश्वास प्राय धर्म और नीति से सम्बन्ध रखते है। इनकी ओर हमारी वृत्ति क्या होनी चाहिए? डेकार्ट ने कहा था कि जिस विश्वास को बुद्धि का पूर्ण समर्थन प्राप्त नही, वह स्वीकृति के योग्य नही। यही दार्शनिको मे प्राय मान्य विचार है। जेम्स इसके प्रतिकूल कहता है कि ऐसी अवस्था मे भाव की ओर देखना चाहिए। किसी विशेष धारणा का मानना अधिक सन्तोष देता है, या इसका न मानना? आत्मा अमर है, या नही? बुद्धि इस प्रश्न का असन्दिग्ध उत्तर दे सके, तो अच्छा, न दे सके तो भाव से पूछना चाहिए। यदि आत्मा को अमर मानने मे शान्ति मिलती है, तो यह विश्वास मान्य है, इससे अशान्त होते हो, तो अमान्य है। हमे भाव की सहायता के लिए, सकल्प का प्रयोग करना चाहिए। जहा बुद्धि काम नही देती, वहा सकल्प विश्वास को दृढ करे।

जेम्स मनोवैज्ञानिक था। वह चिन्तन के साथ, भाव और कृति को भी महत्व देता था। पीअर्स वैज्ञानिक और दार्शनिक था, वह यह समझ ही न सकता था कि सत्यासत्य का निर्णय करने मे, भाव और सकल्प का दखल हो सकता है। जब उसने जेम्स की पुस्तक 'प्रैगमेटिज्म' पढी, तो जेम्स को लिखा—'अधिक यथार्थता के साथ विचार करने की विधि सीखने का यत्न करो।'

नीति मे एक सिद्धान्त यह है कि जो कर्म लाभदायक है, वह शुभ कर्म है। इसे 'उपयोगितावाद' कहते है। ज्ञान-मीमासा मे, 'व्यवहारवाद' उपयोगितावाद ही है। पीअर्स ने अपने पत्र के अन्त मे लिखा—'यदि उपयोगिता एक व्यक्ति तक सीमित हो, तो इसका मूल्य क्या है? मूल्य सार्वजनिक है।'

पीअर्स ने कहा था—'मेरे' अनुभव नही, 'हमारे' अनुभव का ध्यान करना चाहिए। मै आत्मा को अमर मानता हू, क्योकि मुझे इस विश्वास मे शान्ति मिलती है। मेरे पडोसी के लिए यह विश्वास अमान्य है, क्योकि उसे कभी समाप्त न होने वाला जीवन व्याकुल करता है। 'व्यवहारवाद' के अनुसार मुझे इसे मानना चाहिए, मेरे पडोसी को नही मानना चाहिए। यह स्थिति तो सत्य को हसी का विषय बनाती है।

'सत्य सार्वजनिक है।'

६. ज्ञान की सीमाएं

अन्त मे हमे देखना है कि हमारा ज्ञान सीमित है, या कोई सत्ता भी इसकी पहुच मे बाहर नही।

तत्व-ज्ञान समस्त सत्ता को अपने विवेचन का विषय बनाता है, और इसी आशा मे चलता है कि जो कुछ है, जाना जा सकता है। ज्यो-ज्यो विवेचन बढता है, मतभेद व्यक्त होने लगता है। अरस्तू ने तत्व-ज्ञान का लक्षण करते हुए, सत्ता और इसके प्रकटनो—दोनो को इसका विषय बताया था। उसके पीछे आने वाले दार्शनिको ने सत्ता को ही इसका विषय समझा। नवीन काल मे, काट ने कहा कि सत्ता का अस्तित्व मानने मे तो हम विवश है, परन्तु इसके स्वरूप की बाबत कुछ जान नही सकते, हमारा ज्ञान प्रकटनो मे परे नही जाता।

इन सीमाओ मे भी सारे मीमासक एक मत के नही। एक ओर कुछ नवीन 'वस्तुवादी' है, जो कहते है कि कोई साझी और स्थायी दुनिया है ही नही : प्रत्येक मनुष्य को जो कुछ प्रतीत होता है, वह उसके लिए निर्भ्रान्त है। दूसरी ओर विचारको की बहुसख्या है, जो स्थायी और साझी दुनिया के अस्तित्व मे विश्वास करते है, परन्तु यह नही कहते कि हम इस दुनिया को इसके असली रूप मे देख सकते है। सन्देहवादी कहते है कि हमारे लिए किसी प्रकार के सत्य-ज्ञान की सम्भावना ही नही। चूकि प्रत्येक तथ्य की बाबत सन्देह हो सकता है, कोई धारणा भी कट्टर सिद्धान्त के रूप मे पेश नही करनी चाहिए। सन्देहवाद विचार के कमजोर पहलू पर बहुत जोर देना है चूकि हर एक धारणा मे सन्देह का अश हो सकता है, इसलिए सारा ज्ञान अविश्वास का प्रश्न है।

मै अपनी आखो पर भरोसा करता हू। ऐसा करने मे ठोकरो से बचता हू, पुस्तको का पाठ करता हू, दैनिक व्यवहार चलाता हू। कभी-कभी आख धोखा भी देती है, परन्तु ऐसा सौ मे एक बार होता है। इस धोखे की सम्भावना मुझे आखो के प्रयोग से रोकती नही। हमारा ज्ञान एक जजीर नही, जिसकी दृढता उसकी सबसे कमजोर कडी की दृढता है। जैसा पीअर्स ने कहा, यह एक रस्से के समान है, जिसके तार अकेले-अकेले निर्बल है, परन्तु मिल कर एक पुष्ट रस्सा बना देते है। हमारा अनुभव अपनी समग्रता मे, विश्वास का पात्र है, यद्यपि हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि इसके किसी अश मे भी भ्रम की सम्भावना है। पीअर्स ने कहा था "'मेरा' अनुभव नही, 'हमारा' अनुभव विचार करने की चीज है।" उसके आशय को प्रकट करने के लिए हम यह भी कह सकते है—'अनुभव का कोई अश नही, अपितु समग्र अनुभव विचार करने की चीज है।'

हम किस परिणाम पर पहुचे है ?

एक चित्रकार आगरा के 'ताज' को देखने जाता है, और उसकी तस्वीरे लेता है। प्रत्येक तस्वीर किसी विशेष स्थान से ली गयी है, और इसलिए 'ताज' के एक भाग को ही दिखा सकती है : समग्र 'ताज' को नही दिखा सकती। यदि हम इस पहलू पर ही बल दे, तो कहना पडता है कि हम सारे 'ताज' को कदापि देख नही सकते। यह ठीक है; परन्तु यह भी ठीक है कि विविध दृष्टि-कोणो से ली गयी तस्वीरें एक दूसरे की त्रुटि को दूर करने मे सहायक होती है। कितने दृष्टि-कोणो से तस्वीर ली जा सकती है ? इनका तो कोई अन्त नही। इसका अर्थ यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि मे, 'ताज' का सम्पूर्ण ज्ञान सम्भव ही नही। जो कुछ हम देख सकते है, किसी विशेष दृष्टि-कोण से ही देखते है, और इसलिए हमारा ज्ञान अपूर्ण ज्ञान है। जो कुछ 'ताज' की बाबत ठीक है, वही सत्ता की बाबत भी ठीक है। हम अपने विवेचन मे, दृष्टि-कोण की विशेषता से ऊपर नही उठ सकते; परन्तु सत्ता को अनेक दृष्टि-कोणों से देख सकते है, और एक दूसरे के अनुभव मे शरीक हो सकते है। सम्पूर्णता का ज्ञान, या किसी भाग का सम्पूर्ण ज्ञान, हमारी पहुंच मे नही; परन्तु यह सम्भव है कि हम इस आदर्श की ओर लगातार बढ़ते जाय।

द्वितीय भाग

सत्-विवेचन

परतम जातियां

१. व्यवस्था

जीवन के प्रत्येक अग मे व्यवस्था की आवश्यकता होती है। जब हम कुछ करना चाहते है, तो हमारे यत्न का कुछ न कुछ फल निकलता ही है, परन्तु जहा नियम वा व्यवस्था का अभाव हो, या ये पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान न हो, वहा प्रयत्न का बडा भाग निष्फल जाता है। किसी कालेज मे १००० विद्यार्थी पढते हो, तो उन्हे उनकी योग्यता रुचि और आवश्यकता के अनुसार कक्षाओ मे बाटा जाता है। कालेज के पुस्तकालय मे १५,००० पुस्तके हो, और उनको उचित वर्गीकरण करके, क्रम मे रखा जाय, तो जिस पुस्तक की आवश्यकता हो, वह दो मिनटो मे मिल सकती है। समाज और राष्ट्र मे भी क्रम के अनुसार काम करने से यत्न विफल नही जाता।

तत्व-ज्ञान का विषय बहुत विशाल है। तथ्य यह है कि इसके अध्ययन-क्षेत्र के बाहर कुछ है ही नही। हमारा ज्ञान तीन प्रकार का होता है। सबसे निचले स्तर पर विशेष घटनाओ का ज्ञान है। जो कुछ हम जानते है, उसके भागो मे हम कोई आन्तरिक सम्बन्ध नही देखते। विज्ञान मे ऐसा सम्बन्ध दिखायी देता है। विज्ञान का काम अनेक घटनाओ को समानता की नीव पर शृंखलित करना है। विज्ञान की हर एक शाखा अपने लिए क्षेत्र निश्चित करती है। सबसे ऊचे स्तर पर ज्ञान मे यह परिमिति नही होती। ऐसा ज्ञान तत्व-ज्ञान है। जो सम्बन्ध विज्ञान को विशेष घटनाओ के ज्ञान से है, वही सम्बन्ध तत्व-ज्ञान को विज्ञान की विविध शाखाओ से है। इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए, हर्बर्ट स्पेन्सर ने साधारण ज्ञान, विज्ञान और तत्व-ज्ञान को 'अगठित ज्ञान', 'अपूर्ण-गठित ज्ञान' और 'पूर्ण गठित ज्ञान' का नाम दिया है।

२ तत्व-ज्ञान और व्यवस्था

तत्व-ज्ञान विश्व को अपने अध्ययन का विषय बनाता है। यह किसी देश की नदियो, उसके पर्वतो, उसके वासियो के रिवाज आदि की बाबत खोज नही करता, केवल सामान्य नियमो की बाबत जानना चाहता है।

जब हम वाह्य जगत की ओर देखते है, तो हम अपने आपको निस्सीम नानात्व से घिरा पाते है। एक बात से ढारस बधता है, और वह यह कि इस नानात्व के साथ समानता भी विद्यमान है। समानता के आधार पर हम व्यक्तियो को वर्गो या जातियो मे संग्रह करते है, इस ख्याल से कि जो कुछ एक की बाबत जानेगे, वही वर्ग मे सम्मिलित अन्य व्यक्तियो की बाबत भी समझ लेगे।

इस वर्गीकरण की नीव समानता पर होती है। प्रत्येक वस्तु मे अनेक गुण पाये जाते है, इसलिए वह कई भिन्न वर्गो मे सम्मिलित हो सकती है। कौवा पक्षी है, सारे कौवे पक्षी-वर्ग के अन्तर्गत आते है। सारे पक्षी प्राणी है। इस तरह पक्षी कौवो की अपेक्षा जाति है, और प्राणियो की अपेक्षा उप-जाति है। हम ऊपर जाते-जाते ऐसी जातियो तक पहुचना चाहते है, जो स्वयं किसी अन्य जाति की उप-जातिया नही। वह सब सत् के भाग तो है, परन्तु उनमे ऐसी कोई समानता न हो, जिसके आधार पर उन्हे अपने से ऊची जाति मे रख सके। ऐसी जातियो को 'परतम जातिया' या 'परतम वर्ग' कहते है।

अपने अध्ययन-विषय को व्यवस्थित करने के लिए, तत्व-ज्ञान परतम जातियों को निश्चित करने का यत्न करता है।

३. परतम जातियों की सूची

अफलातू

ऐसी सूची के तैयार करने का ध्यान पश्चिम मे पहिले-पहल यूनानियो को आया। कहते है सबसे पहिले आर्काइटस ने दस परतम जातियो की सूची तैयार की। आर्का-इटस से यह विचार अफलातू तक पहुंचा। उसने पाच परतम जातियो को स्वीकार किया। वे पाच जातिया ये है :—

(१) द्रव्य, (२) अनन्यत्व, (३) विभिन्नता, (४) गति, (५) अगति।

द्रव्य सत् का ऐसा भाग है, जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य भाग पर निर्भर नही। कुछ विचारक कहते है कि इन अर्थो मे तो केवल एक ही द्रव्य हो सकता है, और वह समस्त सत् है। कुछ लोग पुरुष और प्रकृति को दो द्रव्य बताते है। कुछ इससे आगे जाते है, और प्रत्येक जीव और प्रत्येक प्राकृत पदार्थ को द्रव्य का पद देते है। इन भेदो की बाबत आगे पर्याप्त वर्णन मिलेगा।

'प्रत्येक पदार्थ', 'प्रत्येक जीव'। यह प्रत्येकपन क्या है? जब हम किसी वस्तु को 'यह' या 'वह' कह कर उसकी ओर सकेत करते है, तो उसे 'स्वत्व' या 'अनन्यत्व' देते है। 'घोड़ा घोडा है', 'रामगोपाल रामगोपाल है'। प्रत्येक वस्तु का अपना-पन

है। यह स्वत्व उन गुणो मे जाना जाता है, जो इकटठे पाये जाते है, और उस वस्तु के गुण कहलाते है। इस वस्तु में तो यह गुण-समूह विद्यमान है, परन्तु यह भी होता है कि किसी अन्य समूह मे यह सब मौजूद न हों, और इनके अतिरिक्त भी कुछ गुण मौजूद हो। विश्व मे 'विभिन्नता' भी मौजूद है। यहा तक हमने विश्व का स्थिर कटाव देखा है, परन्तु परिवर्तन भी विद्यमान है। जब कोई द्रव्य स्थान परिवर्तन करता है, तो इस परिवर्तन को 'गति' कहते है। परिवर्तन का अर्थ एक अवस्था का समाप्त होना, और उसके स्थान मे दूसरी अवस्था का प्रकट होना है। यह दोनों अवस्थाए गति की अपेक्षा 'अगति' है। संकुचित अर्थो मे गति और अगति देश-परिवर्तन और देश-अपरिवर्तन के तुल्यार्थ समझे जाते है, परन्तु कई विचारक इन्हें विस्तृत अर्थों मे भी लेते है, और गति को परिवर्तन और अगति को स्थिरता का पर्यायवाची समझते है।

अरस्तू

अरस्तू ने दस परतम जातियो की सूची दी है :—

द्रव्य,

गुण, परिमाण (मात्रा),

सम्बन्ध,

क्रिया, आक्रान्तता,

देश, काल,

स्वामित्व, स्थिति।

वास्तव मे, इस सूची मे द्रव्य के अतिरिक्त शेष सभी गुण ही है, जो द्रव्य मे पाये जाते है, और इस तरह यह सूची द्रव्य और गुण मे परिणत हो जाती है। द्रव्य एक तात्विक प्रत्यय है। अरस्तू ने इसे न्याय के 'उद्देश्य' से भिन्न नही समझा। वह द्रव्य और गुण की बाबत नही, अपितु 'उद्देश्य' और 'विधेय' की बाबत सोच रहा है। द्रव्य वाक्य मे उद्देश्य ही होता है, विधेय नही होता। अरस्तू हमे यह बता रहा है कि वाक्य में किसी उद्देश्य की बाबत हम क्या कह सकते है। निम्न वाक्य को ले —

रामलाल

६ फुट ऊंचा, स्वस्थ युवक,

नारायण का पुत्र,

अपने कमरे मे,

आराम कुर्सी पर लेटा हुआ,

कैंची से,

कागज कतर रहा है।

इस वाक्य मे अरस्तू के बयान किये हुए सारे गुण रामलाल के सम्बन्ध में वर्णित हो जाते है।

तात्विक दृष्टिकोण से अरस्तू की सूची को अब कोई महत्व नही दिया जाता।

कांट

अफलातू और अरस्तू का उद्देश्य तत्व की बाबत खोज करना था। यह तत्व-ज्ञान का प्रमुख विषय है। काट ने तत्व-ज्ञान के स्थान मे ज्ञान को प्रमुख बना दिया। उसके लिए प्रमुख प्रश्न यह नही कि तत्व किन रूपो मे प्रकट होता है, अपितु यह कि स्वय ज्ञान की बनावट कैसी है, यह नही कि ज्ञान का विषय क्या है, अपितु यह कि ज्ञान का निर्माण कैसे होता है। काट ने अरस्तू की सूची की आलोचना की और कहा कि (१) यह सूची किसी नियम पर आधारित नही, (२) इसमे कुछ जातिया सम्मिलित है जिनका वहा होना अनुचित है, (३) कुछ जातियो को छोड दिया गया है। यह ठीक भी हो, तो भी काट की आलोचना मे बहुत गुरुत्व नही, क्योकि अरस्तू का दृष्टिकोण ही काट के दृष्टिकोण से भिन्न था। अरस्तू बाहर देखता था, काट अपने अन्दर देखता था। अरस्तू तत्व की बाबत सोचता था, काट ज्ञान की बाबत सोचता है।

काट ने परतम जातियो की बाबत जो कुछ कहा, उसका सार यह है —

बाहर से जो सामग्री हमे प्राप्त होती है, उसे हमारा मन देश और काल के साचो मे ढाल कर सवेदन बनाता है। इसके पीछे इन्हे सम्बद्ध करता है। ऐसे सम्बद्ध का फल निर्णय या वाक्य होता है। निर्णय मे मन के भागदान को परतम-जाति या 'कैटेगोरी' कहते है। काट ऐसी चार जातियो का वर्णन करता है—'परिमाण', 'गुण', 'सम्बन्ध' और 'विधि'।

पहिली जाति परिमाण है। हम एक, एक से अधिक, या सभी व्यक्तियो की बाबत कहते है : जैसे :—

भारत मे एक पुरुष राष्ट्रपति है।

भारत मे कुछ लोग वकील है।

भारत मे सभी बालिग नागरिक है।

दूसरी जाति गुण है। गुण की दृष्टि से निर्णयो मे विधि और निषेध का भेद होता है।

कौवा पक्षी है।

बिल्ली पक्षी नही।

कुछ पक्षी काले होते है, कुछ काले नही होते।

सम्बन्ध भी निर्णय को तीन रूपो मे प्रकट करता है :—

घास हरी है (द्रव्य और गुण)।

यदि घी को अग्नि के निकट रखे तो वह पिघल जाता है (कारण और कार्य)।

रामनाथ निर्धन है, या कजूस है (एक दूसरे पर आश्रित होना)।

'विधि' वास्तविकता की बाबत नही कहती, कहने वाले की मनोवृत्ति की बाबत बताती है।

आज वर्षा हुई है।

कल वर्षा का होना सम्भव है।

इतनी गर्मी मे, वर्षा का होना अटल है।

वैशेषिक दर्शन

भारत के दर्शन मे 'वैशेषिक' ने परतम जातियो पर बहुत विचार किया है। इसमे परतम जाति के लिए 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'पदार्थ' 'पद' का 'अर्थ' है; यह वह वस्तु है जिसके लिए कोई सार्थक शब्द प्रयुक्त होता है। 'पद' किसी 'प्रत्यय' का प्रकटन है। इस तरह 'पदार्थ' का अर्थ 'चिन्तन का विषय' है। जब हम चिन्तन के अन्तिम विषयो का वर्णन करते है, तो परतम जातियो का ही वर्णन करते है।

'वैशेषिक' के अनुसार पदार्थ ६ है :—

द्रव्य, गुण, कर्म

सामान्य, विशेष,

समवाय।

पहले तीन पदार्थ प्रत्यक्ष के विषय है। इनकी सत्ता वस्तुगत है। शेष तीन पदार्थ इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के विषय नही, अपितु प्रत्ययात्मक वस्तुए है। दोनो त्रयो की बाबत अलग-अलग विचार करे।

तीन वस्तुगत पदार्थो को अफलातू के परतम वर्गो के साथ देखे।

अफलातू : द्रव्य, अनन्यत्व, विभिन्नता, गति, अगति।

'वैशेषिक' : द्रव्य, गुण, कर्म।

अफलातू ने 'गुण' को अपनी सूची में नही रखा। जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं, तो उसे कैसे पहचानते है ? उसमें कुछ गुण पाये जाते है, जो अन्य किसी वस्तु में भी पाये नहीं जाते। यह गुण उस पदार्थ को उसका स्वत्व देते हैं। किसी अन्य पदार्थ में, किसी भेद के बिना, इन सब गुणों का पाया जाना सम्भव ही नही। यह तो अन्य पदार्थों की अन्यता मे ही निहित है। हमे दो रुपयों में कोई भेद दिखायी नही देता, परन्तु एक मेरे हाथ मे है, दूसरा मेरे साथी के हाथ में है; एक की सामग्री दूसरे की सामग्री नही; जब तुला एक को तोलती है, तो दूसरे को नही तोलती। इस तरह गुण का प्रत्यय अपने साथ अनन्यत्व और विभिन्नता के प्रत्ययो को भी लाता है। दूसरी ओर से देखे, तो इन दोनो प्रत्ययो का 'गुण' के बिना कुछ अर्थ ही नही।

'वैशेषिक' ने 'कर्म' के पाच रूप कहे है, और वे सब गति के भिन्न रूप है। अफलातू ने 'गति' के 'साथ' अगति को भी जोड़ दिया है। प्राचीन यूनान मे गति और अगति विवाद का विषय था। एक दल कहता था कि गति का कोई अस्तित्व नही। जब हम कहते है कि तीर क से ख तक जा पहुचा है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि कुछ समय पहले, यह क पर था, अब ख पर है। इस अन्तर मे स्थिति क्या थी ? एक समय यह क और ख के बीच ग पर था, इससे पहले यह क और ग के बीच घ पर था। इस तरह, तीर अन्तर मे कही न कही स्थित था। यह स्थिति-स्थान असंख्य हो सकते है, परन्तु है तो सभी ठिकाने, जहा तीर ठहरा हुआ था। इस दलील के आधार पर कहा जाता था कि गति केवल भास है, इसका वास्तविक अस्तित्व कुछ नही। दूसरा दल कहता था कि संसार मे सारी वस्तुए गतिशील है। अफलातू ने गति और अगति दोनो को अपनी सूची मे रखा है; 'वैशेषिक' के रचयिता कणाद ने गति को ही लिया है।

इस तरह अफलातू के वर्ग और कणाद के दृष्ट 'पदार्थ', थोड़े भेद के साथ, एक ही है।

द्रव्य का प्रकटन कैसे होता है ? जैसा हम आगे देखेगे, स्पीनोजा ने द्रव्य के साथ गुण को जोडा; लाइबनिज ने क्रिया को इसका अनिवार्य चिह्न बताया। कणाद के अनुसार, गुण और कर्म दोनों एक दूसरे से भिन्न है, और इनमे से किसी को भी छोड़ नही सकते।

अब हम प्रत्ययात्मक पदार्थों को लें। इन्हे प्रत्ययात्मक कहने का अर्थ क्या है ? हम गौ को देखते हैं; उसके रंग-रूप को देखते है। घास चरती वह इधर-उधर जाती है; उसकी गति को भी देखते है। द्रव्य, गुण और कर्म का ज्ञान इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है।

हम कहते है—'गौ एक प्राणी है।' हमारा अभिप्राय यह होता है कि गौओ का वर्ग प्राणी-वर्ग के अन्तर्गत, उसकी उप-जाति है। गौओ की जाति विशेष गौओ से बनती है। यह विशेष गौएं तो प्रत्यक्ष का विषय हे, परन्तु यह धारणा कि 'गौ', 'नील गौ' की जाति और 'प्राणी' की उप-जाति है, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान नही। यह विभाग या वर्गीकरण हमारे मन की क्रिया है। जाति और उप-जाति, उप-जाति और उसे बनाने वाले व्यक्तियो का भेद 'सामान्य' और 'विशेष' का भेद है। 'वैशेषिक' मे कहा है कि 'सामान्य और विशेष, ये दोनो, बुद्धि की अपेक्षा से है।' (१ : २ : ३)। भारत एक विस्तार है। हम उसे प्रान्तो मे बाटते है। स्वयं भारत महाद्वीप का भाग है। महाद्वीप को देशो मे मनुष्यो ने विभाजित किया है। इसी तरह विश्व मे तो अनेक विशेष पदार्थ है, उन्हे जातियो और उप-जातियो मे देखना मानसिक क्रिया है।

समवाय के सम्बन्ध मे 'वैशेषिक' ने बहुत कम कहा है।

" 'इसमे यह है'—जिस सम्बन्ध के कारण, इस प्रकार का ज्ञान कार्य-कारण मे होता है, वह 'समवाय' है।"

(७ २ . २४)

इतना ही निश्चित रूप मे 'वैशेषिक' की शिक्षा है। इस सूत्र का अभिप्राय क्या है?

पहली बात तो यह है कि हम यहा एक सम्बन्ध की बाबत वर्णन कर रहे हैं।

दूसरी यह कि यह सम्बन्ध कार्य-कारण सम्बन्ध है।

तीसरी यह कि इस सम्बन्ध का विवरण इन शब्दो मे हुआ है—'इसमे यह है।'

अन्तिम वाक्य से प्रतीत होता है कि यहा संस्थान या स्थिति के ख्याल को प्रकट किया गया है। दो विशेष हालतो मे यह सम्बन्ध हमारे सम्मुख आता है। हम कहते है—'घास हरी है।' हरापन घास मे पाया जाता है, यह घास का गुण है। 'इस (घास) मे यह (हरापन) है।' द्रव्य और गुण का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है। दूसरी हालत 'समस्त' और 'भाग' की या 'सामग्री' और 'निर्मित वस्तु' की है। 'समवाय' का अर्थ 'तन्तु-बुनना' है। तन्तुओ को बुनने से वस्त्र बनता है। न्याय की परिभाषा मे हम कहते है कि तन्तु वस्त्र का 'उपादान कारण' है। वस्त्र तन्तुओ से अतिरिक्त कुछ नही, और निरे तन्तु भी नही। तन्तु इसलिए नही कि तन्तुओ के मौजूद होने पर भी वस्त्र मौजूद न था, तन्तु ही है, क्योकि इसमे तन्तुओ के अतिरिक्त कुछ दिखायी नही देता : हम फिर इसे तन्तुओ मे बदल सकते है। हम कह सकते है कि 'इस (वस्तु) मे यह (तन्तु) है।' यह समस्त और उसके भागो का सम्बन्ध है। इन दो अर्थों मे व्याख्याकार समवाय को लेते है; अधिक संख्या दूसरे अर्थ मे होती है।

परन्तु हम यह भी कह सकते है कि 'इस (तन्तु) में यह (वस्तु) है।' तन्तुओं मे वस्तु छिपा है। तन्तु 'संभावना' या 'शक्यता' है: वस्तु उसकी 'वस्तुता' है। साख्य दर्शन में, उपादान कारण को ही नहीं, अपितु सारे कारण-कार्य के सम्बन्ध को इस रूप मे देखा है—'इस (कारण) में यह (कार्य) विद्यमान है।'

समवाय को किसी रूप में ले, यह 'सम्बन्ध' है। यह एक बन्धन है, जो दो पृथक वस्तुओ को बन्धु बना देता है। ऐसे सम्बन्ध के अभाव मे स्थिति क्या होती है? वस्तुए एक दूसरे के आगे-पीछे, दायें बाये, ऊपर-नीचे, अवकाश मे होती है; घटनाए एक दूसरे के साथ, या आगे-पीछे होती है। यह 'संयोग' है। इसका इतना ही अर्थ है कि अनेक वस्तुओं के लिए अवकाश में पर्याप्त स्थान है, और अनेक घटनाओं की काल मे स्थिति हो सकती है। जब हम सम्बन्ध का जिक्र करते है, तो हम कहते है कि वस्तुएं और घटनाएं एक दूसरे के साथ बंधी हैं; गठित है। बहुत्व या अनेकता के साथ एकता भी मिल गयी है।

तत्व-ज्ञान के इतिहास मे 'संयोग' और 'समवाय' का विवाद एक प्रमुख विवाद है। निरे संयोग का बड़ा समर्थक डेविड ह्यूम हुआ है। वह कहता है कि सारी सत्ता प्रकटनों की है, और प्रकटनो मे सयोग है, सम्बन्ध नही। विज्ञान कारण-कार्य के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, और इसका प्रमुख काम इस सम्बन्ध की खोज करना है। वैशेषिक ने 'समवाय' को पदार्थो मे स्वीकार किया है, परन्तु यह भी कहा है कि यह सम्बन्ध इन्द्रियों से जाना नही जाता। जैसा हम आगे देखेगे, ह्यूम और उसके साथियों ने इसे गलत स्थान मे ढूढा। इन्द्रिया सम्बन्ध को देख नही सकती; यह बुद्धि के मनन मे जाना जाता है।

द्रव्य-निरूपण

महाद्वीप के तत्व-विवेचक

पिछले दो अध्यायो मे हमने देखा है कि विचारकों ने सत् को किन मौलिक रूपो में देखा। परतम जातियों की सभी सूचियों में द्रव्य को प्रमुख स्थान दिया गया है। 'वैशेषिक' के अनुसार द्रव्य, गुण और कर्म ही तीन दृष्ट परतम जातिया है, और इन में गुण और कर्म दोनों द्रव्य पर आलम्बित है। वर्तमान अध्याय मे द्रव्य की रूप-रेखा पर कुछ कहेगे। पश्चिम मे नवीन दार्शनिक विवेचन मे द्रव्य-निरूपण एक प्रमुख विषय बना रहा है। इस सम्बन्ध मे डेकार्ट, मलब्राश, स्पीनोजा और लाइबनिज के नाम विशेष रूप में प्रसिद्ध है। इन्हे इसी क्रम मे लेगे।

१. डेकार्ट का द्वैत

दार्शनिक विवेचन मे नवीन युग का आरम्भ फ्रास के प्रसिद्ध स्वतन्त्र विचारक रेने डेकार्ट (१५९६-१६५०) से होता है। डेकार्ट की अपनी शिक्षा मे गणित और ज्योतिष प्रधान विषय थे। जब दर्शन की ओर उसकी रुचि हुई, तो उसने गणित और दर्शन में एक आश्चर्यजनक असमानता को देखा। जहा गणित मे निश्चित और असन्दिग्ध उत्तर मिलते है, वहा दर्शन मे कोई ऐसे उत्तर नही मिलते; जिस चक्कर मे दार्शनिक १,००० वर्ष पहले पडे थे, उसी मे अब पडे है। दर्शन की इस त्रुटि को दूर करने के लिए डेकार्ट ने निश्चय किया कि गणित की विधि को दर्शन में प्रयुक्त करे, जिससे इसमें भी निश्चित और असन्दिग्ध परिणाम मिल सकें।

डेकार्ट ने निश्चय किया कि किसी धारणा को स्वीकार करने से पहले, वह यह देखेगा कि धारणा युक्ति-युक्त है या नही। प्रत्येक विश्वास को स्वीकृति के लिए इस कसौटी पर ठीक उतरना होगा। डेकार्ट ने व्यापक सन्देह से आरम्भ किया : बाह्य जगत, परमात्मा और स्वयं अपनी सत्ता मे सन्देह किया। तुरन्त ही उसे सूझा कि इन तीनों की सत्ता में सन्देह हो सकता है, किन्तु 'सन्देह' के अस्तित्व मे सन्देह करना तो

सम्भव ही नही। सन्देह का अस्तित्व उसे सत्ता की अचल चट्टान सा प्रतीत हुआ। सन्देह एक प्रकार की चेतना-अवस्था है; इसलिए चेतना-अवस्था का अस्तित्व भी असन्दिग्ध तथ्य है। चेतना चेतन मे ही होती है। इसलिए सन्देह करने वाले का अस्तित्व भी असन्दिग्ध है। डेकार्ट की पहली निश्चित धारणा यह थी : 'मै चिन्तन करता हू; इसलिए मै हूं।'

अब डेकार्ट ने अपने विचारो पर दृष्टि डाली, और उनका परीक्षण आरम्भ किया। अपने प्रत्ययो मे उसने एक प्रत्यय 'सम्पूर्णता' का देखा। उसने अपने आपसे पूछा—'इस प्रत्यय की उत्पत्ति कैसे हुई है? मै तो अपूर्ण हू और कोई अपूर्ण वस्तु पूर्णता के प्रत्यय को जन्म नही दे सकती।' पूर्णता के प्रत्यय ने उसे पूर्ण सत्ता, परमात्मा के अस्तित्व को मानने पर बाधित किया। 'पूर्ण परमात्मा विद्यमान है।' यह डेकार्ट की दूसरी निश्चित धारणा थी।

उसे बाह्य जगत भी सत्य प्रतीत होता था। यह प्रतीति आरम्भिक सन्देह के समय भी विद्यमान थी। अब उसने सोचा कि क्या यह प्रतीति तथ्य की प्रतीक है, या केवल धोखा है? यह प्रतीति धोखा ही हो, तो मानना पडेगा कि सत्य-स्वरूप परमात्मा हमे आयु भर इस धोखे मे रखता है। हम सम्पूर्ण परमात्मा की बाबत ऐसा ख्याल नही कर सकते। तीसरी धारणा जिसे डेकार्ट ने स्वीकार किया, बाह्य जगत वा प्रकृति के अस्तित्व की बाबत थी। इस तरह डेकार्ट अपनी तीन मौलिक धारणाओ पर निम्न क्रम मे पहुचा —

(१) मै चिन्तन करता हू, इसलिए मै हू।

(२) मेरे प्रत्ययो मे पूर्णता का प्रत्यय विद्यमान है। इसका जन्मदाता पूर्ण परमात्मा भी विद्यमान है।

(३) परमात्मा सत्य-स्वरूप है। उसकी व्यवस्था मे, बाह्य जगत की प्रतीति भ्रम नही हो सकती। प्रकृति का अस्तित्व असन्दिग्ध तथ्य है।

परमात्मा और जीवात्मा दोनो आत्मा है। इसलिए सत् मे दो परतम जातिया है—आत्मा और प्रकृति। यह डेकार्ट का द्वैत है।

डेकार्ट ने इन दोनो के स्वरूप की बाबत चिन्तन करना आरम्भ किया, और इस परिणाम पर पहुंचा कि :—

(१) आत्मा चेतन है, और विस्तार-रहित है।

(२) प्रकृति अचेतन है, और विस्तार इसका तत्व है। इस तरह, डेकार्ट के दोनो द्रव्य एक दूसरे से इतने भिन्न हो गये कि इनमे किसी प्रकार का सम्बन्ध अचिन्त-नीय हो गया। परन्तु सम्बन्ध तो हम देखते ही है; डेकार्ट भी देखता था। हमे बाह्य

पदार्थों का ज्ञान होता है। हम अपनी क्रिया से उन पर प्रभाव डालते हैं; वे अपनी क्रिया से हमे प्रभावित करते हैं। यह ज्ञान और क्रिया-प्रतिक्रिया कैसे सम्भव है? डेकार्ट ने इस गुत्थी को सुलझाने के लिए इतना ही कहा कि शरीर के पिछले ग्लैंड मे आत्मा और प्रकृति का सम्पर्क होता है, और इससे वे एक दूसरे पर क्रिया कर सकते है। यह समाधान डेकार्ट को सन्तुष्ट कर सका होगा; किसी अन्य विचारक को सन्तुष्ट नही कर सका।

डेकार्ट के सिद्धान्त मे दो प्रमुख प्रत्यय थे—द्रव्य और कारण-कार्य सम्बन्ध। उसने व्यापक सन्देह मे आरम्भ करके, अपनी, परमात्मा की और प्रकृति की सत्ता को सिद्ध करने का दावा किया था। क्या वह अपने प्रयत्न मे सफल हुआ? तनिक विचार करे।

(१) डेकार्ट ने कहा था कि वह, युक्ति के अभाव मे, किसी धारणा को स्वीकार नही करेगा। बुद्धि के अधिकार को तो मानेगा अन्य किसी नियम को आरम्भ मे फर्ज नही करेगा। पहली धारणा मे उसने कहा कि सन्देह के अस्तित्व मे सन्देह नही हो सकता। यह ठीक है। इसके बाद कहा कि सन्देह एक प्रकार की चेतना-अवस्था है। यह भी ठीक है। अब तीसरा पग यह उठाया कि चेतना चेतन के बिना नही हो सकती। यदि चेतना को गुण समझा जाय, तो उसने फर्ज कर लिया कि कोई गुण गुणी के बिना हो नही सकता। यदि चेतना क्रिया है, तो उसने फर्ज कर लिया कि कोई क्रिया कर्त्ता (द्रव्य) के बिना नही हो सकती। ये दोनो धारणाए सत्य हो, तो भी डेकार्ट तो कह चुका था कि वह किसी धारणा को प्रमाणित किये बिना नही मानेगा। यहा उसे किसी प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता का ध्यान ही नही आया।

(२) डेकार्ट ने परमात्मा की सत्ता को पूर्णता के प्रत्यय पर निर्धारित किया। क्यो? इसलिए कि पूर्णता के प्रत्यय को जन्म देने के लिए पूर्ण द्रव्य की आवश्यकता है। यहा फिर उसने, न जानते हुए, 'पर्याप्त हेतु' के नियम को प्रमाण के बिना स्वीकार कर लिया। वैज्ञानिक मानते है कि किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण मे पर्याप्त योग्यता होनी चाहिए। वैज्ञानिक इसे कारण-कार्य नियम के साथ फर्ज करते है; परन्तु डेकार्ट तो अपने आपको किसी धारणा को फर्ज करने के अधिकार से वंचित कर चुका था।

(३) वाह्य जगत के अस्तित्व के पक्ष मे डेकार्ट ने कहा कि सत्य-स्वरूप परमात्मा की व्यवस्था मे ऐसा भ्रम वा धोखा नही हो सकता। भ्रम वा धोखे के अस्तित्व से तो इन्कार हो ही नही सकता। भेद इतना ही है कि इस भ्रम की मात्रा कितनी

है। क्या यह जगत के अल्प भागो के सम्बन्ध मे ही होता है, या समस्त जगत की प्रतीति के सम्बन्ध में भी हो सकता है ?

डेकार्ट ने जिस व्यापक सन्देह के साथ आरम्भ किया था, वह उसे सदा अपनी दृष्टि मे नही रख सका। उसके सिद्धान्त के दोनों भागों—द्रव्य में द्वैत और आत्मा और प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया—ने ऐसी समस्याएं प्रस्तुत कर दी, जिन्होंने चिर-काल तक दार्शनिको को परेशानी मे डाल दिया, और वह डेकार्ट की कठिनाइयों का समाधान करने में लगे रहे।

२. मेलब्रांश

मेलब्राश (१६३८-१७१५) डेकार्ट के अनुयायियो मे प्रमुख था। उसने डेकार्ट के एक और अनुयायी, ग्युलिक्स, के विचारो को स्वीकार किया, और उन्हे कुछ आगे बढाया।

ग्युलिक्स और मेलब्राश दोनो डेकार्ट के द्वैत को स्वीकार करते थे। दोनों यह भी मानते थे कि आत्मा और प्रकृति के गुण सर्वथा भिन्न है। जैसा एक लेखक ने कहा है, 'आत्मा सत् के व्यास के एक किनारे पर स्थित है, और प्रकृति दूसरे किनारे पर है।' इन दोनों के भेद मे अधिक भेद का हम चिन्तन ही नही कर सकते। यहा तक दोनो डेकार्ट के साथ थे, परन्तु वे डेकार्ट के इस समाधान को स्वीकार नही कर सके. कि मस्तिष्क के एक भाग मे, आत्मा और प्रकृति का सम्पर्क होता है, और वह ज्ञान और क्रिया को जन्म देता है। उन्होने दोनों द्रव्यो की आपसी क्रिया और प्रतिक्रिया के किसी अन्य सन्तोषजनक समाधान की खोज की और इसे परमात्मा की अपरिमित शक्ति मे देखा। अनुभव ने उन्हे बताया कि जब प्रकाश की किरणे हमारी आख पर पडती है, तो हम देखते है, जब किसी पदार्थ के गिरने से वायुमण्डल मे लहरें उत्पन्न हो कर हमारे कान के परदे से टकराती है, तो हम सुनते है। प्रकृति की घटनाएं हमारी आत्मा पर क्रिया करती है, और इसका फल ज्ञान होता है। दूसरी ओर मै इच्छा करता हू कि कुछ सैर कर आऊ, और खडा हो जाता हूं, हाथ छड़ी पकड़ता है, आखें मार्ग पर लगती है, और टागे चलती है। लिखने का निश्चय करता हू, तो शरीर मे अन्य क्रियाएं होने लगती है। यहा आत्मा प्रकृति मे परिवर्तन करती है। इस अनुभव की ओर से, ग्युलिक्स और मेलब्राश आखे बन्द नही कर सकते थे। उनका दार्शनिक विचार आत्मा और प्रकृति जैसे विभिन्न द्रव्यो मे कोई सम्बन्ध देख ही नही सकता था। उन्होंने कहा कि वास्तव मे, ज्ञान और कर्म के रूप मे जो कुछ होता है, परमात्मा की क्रिया है। आत्मा और प्रकृति तो केवल अवसर प्रस्तुत करते है। जब प्रकाश की किरण मेरी आख पर पडती है, तो परमात्मा मेरी आत्मा में रूप-रंग का ज्ञान

पैदा कर देता है; जब मेरे शरीर मे जल की कमी होती है, तो मुझे प्यास का बोध करा देता है। दूसरी ओर जब मै सैर करना या लिखना चाहता हूं, तो परमात्मा मेरे अंगों मे उपयोगी गति पैदा कर देता है। वास्तव में परमात्मा ही अकेला कारण है; आत्मा और प्रकृति तो केवल अवसर प्रस्तुत करते है। ग्युलिक्स और मेलब्राश के सिद्धान्त को 'अवसर-वाद' का नाम दिया जाता है।

इस समाधान में दो कठिनाइया आलोचकों को दिखायी दी :—

(१) मौलिक कठिनाई तो यह थी कि आत्मा और प्रकृति का भेद ऐसा है कि उनमें किसी प्रकार की क्रिया की सम्भावना ही नही। परमात्मा भी परम आत्मा सही, आत्मा तो है। उसकी अपरिमित शक्ति से हम यह तो अनुमान कर सकते हैं कि जो कुछ जीवात्मा कठिनाई से करता है, परमात्मा सहज कर लेता है, परन्तु जो असम्भव है, वह तो दोनो के लिए असम्भव है।

(२) 'अवसर-वाद' के उदाहरणो के लिए ऊपर सैर और लिखने के उदाहरण दिये गये है। यह दोनो अच्छे काम नही, तो निर्दोष काम तो है ही, परन्तु जो कुछ होता है, वह सारा अच्छा या निर्दोष कार्य ही नही होता। एक पुरुष निश्चय करता है कि अपने पड़ोसी की हत्या करके, उसका माल चुरा ले। वह आप तो कुछ कर नही सकता। परमात्मा उसके हाथ मे छूरा देता है, उसे पडोसी के घर मे पहुंचाता है, और शेष जो कुछ भी अनिवार्य है, करा देता है। वह प्रत्येक चोर, डाकू, हत्यारे की कामनाओ को पूरा करने मे तत्पर है। सम्भव है पीछे पापी को दण्ड भी दे, परन्तु अपराध करते समय तो पूरा सहयोग देता है।

मेलब्राश इस सांझी स्थिति से आगे बढ़ा।

मै इस समय मेज पर पडे कागज को देख रहा हू, मेरा साथी पुस्तक पढ रहा है। परन्तु हम दोनो का बोध इतनी सीमा मे ही बन्द नही। हमे यह भी बोध है कि हमारे इर्द-गिर्द अनेक पदार्थ विद्यमान है। इस प्रकार का स्थायी बोध हम सबके ज्ञान का भाग है। ऐसा बोध परमात्मा कब हमारी आत्माओ मे पैदा करता है? जन्म के थोडे समय बाद पैदा कर देता है? या प्रतिक्षण इसे पैदा करता रहता है? यह दोनों सम्भावनाएं है, परन्तु दार्शनिक और वैज्ञानिक समाधान का स्वीकृत नियम यह है कि यथासम्भव सरलतम समाधान को अंगीकार किया जाय। सरल समाधान यह है कि समस्त चित्र परमात्मा की चेतना में विद्यमान है, और प्रत्येक मनुष्य उन्हें वहा देखता है। हम बाह्य पदार्थो को बाह्य जगत में नही देखते, न परमात्मा उनके चित्रों को हमारी आत्माओं पर अंकित करता रहता है; अपितु हम उन्हें परमात्मा में, जहां वे सदा मौजूद है, देखते है।

यह विचार, प्रकृति और आत्मा में कारण-कार्य का सम्बन्ध स्वीकार किये बिना, हमारे ज्ञान का समाधान प्रस्तुत करता है, और समाधान सरल भी है। परन्तु इस समाधान मे मिथ्या-ज्ञान की स्थिति क्या है ? मै कई बार दूर से पानी देखता हूं ; निकट पहुंचने पर पता लगता है कि वहा पानी न था, रेत का विस्तार था। यदि जो कुछ देखते है, परमात्मा मे ही देखते है, तो कहना पड़ेगा कि पहले पानी के चित्र को परमात्मा मे देखा, और अब उसी स्थान पर रेत की प्रतीति होती है। इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि पहली हालत मे यह तथ्य ही नही कि हमने पानी को देखा। देखा तो चमकीले विस्तार को, और पिछले अनुभव की नीव पर अनुमान कर लिया कि वहा पानी है। इस ज्ञान मे प्रत्यक्ष का दोष नही; अनुमान का दोष है। जो कुछ हम परमात्मा मे देखते है, वह तो सदा यथार्थ ही होता है , जो कुछ अपनी ओर से मिला देते है, वह अयथार्थ का अश होता है।

ग्युलिक्स और मेलब्राश दोनो ने डेकार्ट के मौलिक सिद्धान्त, द्वैत, को स्वीकार करके, उसकी कठिनाइयो को दूर करने का प्रयत्न किया। अब हम जिन विचारको का वर्णन करेगे, उन्होने समझा कि गाठ खुलती तो नही, इसे काटना चाहिए। उन्होने कहा कि सारी खराबी तो मौलिक सिद्धान्त—द्वैत—से पैदा होती है। यह सिद्धान्त ही अमान्य है। इन विचारको मे हम पहले स्पीनोजा को लेते है ; इसके बाद लाइ-बनिज को लेगे।

३. स्पीनोजा

स्पीनोजा (१६३२—१६७७) ने अनुभव किया कि डेकार्ट के सिद्धान्त की कठिनाइयो के दूर करने का कारगर उपाय यही है कि उसके द्वैत का परित्याग कर दिया जाय। इसका सहज ढग तो यही है कि पुरुष और प्रकृति मे एक को ही द्रव्य माना जाय, और दूसरे को प्रकटन का पद दिया जाय। जैसा हम आगे देखेगे, दार्शनिको ने इसी तरीके को बरता। अद्वैत ने दो रूप ग्रहण किये। एक रूप प्रकृति का था, जिसके अनुसार प्रकृति अपने विकास मे, जीवन और चेतना को जन्म देती है , दूसरा रूप आत्मवाद का था, जिसके अनुसार प्रकृति मानव विचारो वा चित्रो से अलग कोई अस्तित्व नही रखती। स्पीनोजा ने अपने लिए इन दोनो मार्गो से पृथक मार्ग चुना। उसने आत्मा और प्रकृति मे किसी को प्रथम स्थान नही दिया, अपितु दोनो को द्रव्यत्व से वचित कर दिया।

स्पीनोजा के सिद्धान्त मे तीन प्रत्यय प्रमुख है—द्रव्य, गुण, आकृति। इस तरह उसने डेकार्ट के 'कार्य-कारण के सम्बन्ध' को, और 'वैशेषिक' के 'कर्म' को छोड दिया। इन तीनो प्रत्ययो से स्पीनोजा का अभिप्राय क्या था ?

'द्रव्य' के लिए स्पीनोजा ने 'सब्स्टैन्स' शब्द का प्रयोग किया है। यही शब्द मध्य-काल के दार्शनिक विवेचन मे प्रयुक्त होता था, और इसीलिए उसने इसका प्रयोग किया ; 'सब्स्टैन्स' का अर्थ 'नीचे खडा होने वाला' 'सहारा देने वाला' है। आशय यह है कि 'सब्स्टैन्स' गुणो का सहारा या आलम्बन है। 'सत्' स्पीनोजा के आशय को बेहतर व्यक्त करता है। स्पीनोजा के विचार मे, द्रव्य वा सत् के लिए बहुवचन का प्रयोग अनुचित है। सत् एक ही है , और जो कुछ भी है, इसके अन्तर्गत आ जाता है। इस सत् या 'सब्स्टैन्स' को ही स्पीनोजा परमात्मा वा ब्रह्म का नाम देता है। स्पीनोजा के मत मे ब्रह्म और ब्रह्माण्ड एक ही है। इस सूत्र के दो अर्थ हो सकते है :—

(१) ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नही।

(२) ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त और कुछ है ही नही।

पहले अर्थ के अनुसार, प्राकृत जगत भ्रम मात्र है।

दूसरे अर्थ के अनुसार, प्राकृत जगत के अतिरिक्त परमात्मा का कोई अस्तित्व नही। कुछ लोगो ने स्पीनोजा के सूत्र को पहले अर्थ मे समझा, परन्तु उसके समय में, और उसके पीछे चिरकाल तक, बहुत लोगो ने उसे प्रकृतिवादी और नास्तिक के रूप मे देखा।

सत् वा सब्स्टैन्स' के असख्य गुण है। इनमे से हम केवल दो गुणो की बाबत जानते है। ये दो गुण 'चिन्तन' और 'विस्तार' है। हमारे ज्ञान के सीमित होने का कारण सम्भवत. यह है कि यही दो गुण हम मे पाये जाते है।

ये दो गुण असख्य आकृतियो मे व्यक्त होते है। सारे चेतन चिन्तन के आकार है ; सारे प्राकृत पदार्थ विस्तार के आकार है। जिस तरह समुद्र के तल पर अगणित तरंगे प्रकट होती है, और फिर समुद्र मे लिप्त हो जाती है, उसी तरह जीवात्मा या मन चिन्तन की अस्थायी आकृतिया है, और प्राकृत पदार्थ विस्तार की अस्थायी आकृतिया है।

डेकार्ट के लिए, आत्मा और प्रकृति, मन और शरीर, का सम्बन्ध एक समस्या बना हुआ था , वह इन दो द्रव्यो के कारण-कार्य सम्बन्ध को समझ नही सकता था। स्पीनोजा के लिए यह कोई प्रश्न ही न था। कारण-कार्य सम्बन्ध द्रव्यो के दर्मियान होता है, और द्वैत को फर्ज करता है। स्पीनोजा ने द्वैत को अस्वीकार किया और कहा कि आत्मा और प्रकृति दो स्वतन्त्र द्रव्य नही, अपितु एक ही सत्ता के दो पहलू या पक्ष है। जो कुछ एक ओर से चिन्तन दिखायी देता है, वही दूसरी ओर से विस्तार दिखायी देता है। एक ही वक्र रेखा एक ओर से बाहर की ओर फुलाहस दिखायी

देती है, दूसरी ओर से पोली दिखायी देती है। इसी तरह, चिन्तन और विस्तार एक ही सत् के दो पक्ष है।

इस धारणा से जो परिणाम निकलते है, वह बहुत महत्वपूर्ण है।

(१) चिन्तन और विस्तार दोनो एक साथ रहने वाले गुण है। जहा कही चिन्तन है, वहां विस्तार भी है। ब्रह्माण्ड परमात्मा का शरीर है। नवीन मनोविज्ञान कहता है कि जहा कही चेतना है, वहा तन्तुजाल मे कोई गति या हरकत भी है। यह स्पीनोजा के विचार की एक गूज है। दूसरी ओर जहा कही विस्तार है, वहा चेतना भी है। इसका अर्थ यह है कि चेतन और अचेतन का भेद जो हम करते है, कोई अस्तित्व नही रखता। चेतना सारे जगत मे, प्रत्येक पदार्थ मे, विद्यमान है। भेद एक के अधिक वा न्यून होने का है।

(२) हम कहते है, 'प्राकृत जगत मे नियम का राज्य है।' स्पीनोजा के विचार मे, प्राकृत जगत ही मे नही, समस्त जगत मे नियम का शासन है। हमारा काम इस नियम को समझना और इसे स्वीकार करना है। यह बोध विज्ञान और आत्म-ज्ञान से होता है। यही ब्रह्मज्ञान है। नियम का खुशी से स्वीकार करना ही बुद्धिमत्ता है। यही ईश्वर-प्रेम है। स्पीनोजा ने अपने दार्शनिक विचार अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नीति' मे प्रकट किये है। व्यावहारिक नीति का तत्व दो नियमो में आ जाता है :—

(१) 'जो कुछ असभव है, उसकी कामना न करो।'

(२) 'जो कुछ अटल है, उसे चू—चरा किये बिना स्वीकार करो।'

(३) ब्रह्म और ब्रह्माड एक ही है। ब्रह्माण्ड मे भलाई के साथ बुराई मिलती है; सौन्दर्य के साथ कुरूपता मिलती है। ये भेद हम मानव दृष्टि-कोण से करते है; ब्रह्माण्ड (या ब्रह्म) तो पूर्ण निष्पक्षता से इन सबके लिए स्थिति प्रस्तुत करता है।

(४) जब किसी व्यक्ति का शरीरान्त होता है, तो उसके साथ ही उसके मानसिक जीवन का भी अन्त हो जाता है। साधारण अर्थों मे, स्पीनोजा के मत मे व्यक्ति के अमरत्व के लिए कोई स्थान नही। परन्तु मै इस समय विद्यमान हूं। स्पीनोजा के सिद्धान्त मे, इसका अर्थ यह है कि मै ब्रह्माण्ड (=ब्रह्म) का अनिवार्य अंश हूं। मेरे बिना ब्रह्माण्ड की स्थिति हो ही नही सकती। और जो कुछ मै कर रहा हूं, वह मेरे साथ समाप्त नही हो जायगा, अपितु सदा कायम रहेगा। इन अर्थों मे मै अमर हूं।

४. लाइबनिज

लाइबनिज (१६४८—१७१६) भी स्पीनोजा की तरह उच्च कोटि का गणितज्ञ था। स्पीनोजा ने अनेक सीमित और साकार पदार्थों को देखा, और वह

इनसे गुजर कर अनन्त सत् की ओर बढ़ा। लाइबनिज ने विपरीत मार्ग को अंगीकार किया। इसने दृष्ट पदार्थों के विश्लेषण से आरम्भ किया। वह अन्त मे ऐसे स्थान पर पहुंचा जहा आगे विश्लेषण की सम्भावना ही नही। अन्तिम सीमा को उसने 'बिन्दु' के रूप मे देखा। बिन्दु का कोई विस्तार नही ; इसलिए उसने विस्तार के अस्तित्व से इन्कार किया। विस्तार के अतिरिक्त डेकार्ट और स्पीनोजा ने चेतना को माना था। लाइबनिज ने भी इसे स्वीकार किया, और कहा कि 'बिन्दु' जिन पर हम विश्लेषण के अन्त मे पहुंचते है, चेतन है। यह चेतन या तात्विक बिन्दु ही समस्त सत्ता है।

यह बिन्दु अखण्ड है , इसलिए नित्य है। इनमे परिवर्तन होता है, परन्तु यह परिवर्तन किसी बाहर के प्रभाव से नही होता। यह उनके आन्तरिक भाव के कारण होता है। लाइबनिज के शब्दो मे 'चेतन' बिन्दुओ मे कोई खिडकी नही, जिसमे से कुछ बाहर जा सके, या अन्दर आ सके। एक तरह से वे सारे चिद्-बिन्दु स्वतन्त्र विश्व ही है।

यदि स्थिति ऐसी है तो सशय पैदा होता है कि हम पदार्थो मे जो सम्बन्ध देखते है वह कैसे समझा जा सकता है ? मुझे अपने साथियो के विचारो का ज्ञान होता है ; उन्हे मेरे विचारो का ज्ञान होता है। यदि प्रत्येक चिद्-बिन्दु एक बन्द दुनिया है, तो यह ज्ञान कैसे होता है ? लाइबनिज कहता है कि सारा ज्ञान वास्तव मे आत्मज्ञान है। प्रत्येक बिन्दु वही देखता है, जो उसके अन्दर होता है। परन्तु इस बिन्दु और कुछ अन्य बिन्दुओ मे पूर्व निर्मित ऐसी समानता है कि जो कुछ एक बिन्दु मे होता है, वही उन अन्य बिन्दुओ मे हो रहा है। लाइबनिज इसे घडियों के दृष्टान्त से स्पष्ट करता है। कल्पना करे कि बीस घडिया बीस कमरो मे दीवारो पर लगी है। वह सब बिल्कुल ठीक समय बताती है। यह भी कल्पना करे कि घडियो को आप भी समय का ज्ञान होता है। जब एक घडी जानती है कि उसमे पाच बजे है, तो साथ ही यह भी जानती है कि अन्य घडियों मे भी पाच बजे है।

प्रत्येक बिन्दु सारे विश्व का प्रतिनिधि है। वह विश्व का चित्र प्रस्तुत करता है परन्तु अपने दृष्टि-कोण से। दृष्टि-कोणों का भेद बहुत हो, तो विविध चित्र समान नहीं होते। मै मनुष्यो की मानसिक अवस्था को जानता हूं, मक्खी की मानसिक अवस्था को नही जानता। इसका कारण यह है कि जो चेतन-बिन्दु मानव आत्मा है, उनके दृष्टि-कोणो और मक्खी के दृष्टि-कोण में बहुत भेद है।

सब चेतन-बिन्दुओ की चेतना एक स्तर की चेतना नही होती। पेन्सिल भी असख्य चेतन-बिन्दुओं का समूह है, परन्तु इन बिन्दुओं की चेतना निचले दर्जे की है।

मेरा शरीर भी असख्य बिन्दुओ का समुदाय है, परन्तु इनके अतिरिक्त एक केन्द्रीय बिन्दु भी विद्यमान है, जो अन्य सारे बिन्दुओ का सगठन करता है, उनमे एकीकरण करता है। हम जो भेद सजीव और अजीव पदार्थों मे करते है, वह वास्तव मे ऐसे एकीकरण करने वाले बिन्दु के भाव या अभाव का ही होता है।

सारे विश्व मे भी एक केन्द्रीय बिन्दु है। वह परम आत्मा है। वही अन्य बिन्दुओ मे सामंजस्य और अनुकूलता का निर्माण करता है। केवल परमात्मा ही कैवल्य मे विद्यमान है। अन्य बिन्दु समूहो मे होते है। इसका अर्थ यह है कि केवल परमात्मा ही विशुद्ध आत्मा है; अन्य आत्मा शरीर से युक्त है। आत्मा और शरीर मे किसी प्रकार का कारण-कार्य का सम्बन्ध नही। उनकी पूर्व-निर्मित अनुकूलता के कारण ऐसे सम्बन्ध का भास होता है। मन का कार्य ऐसे चलता है, जैसे वह शरीर के अभाव मे चलता। शरीर का कार्य ऐसे चलता है, जैसे वह मन के अभाव मे चलता। परन्तु दोनो का काम ऐसे चलता है, मानो उनमे निरन्तर क्रिया और प्रतिक्रिया हो रही है।

डेकार्ट ने द्वैत को माना था; स्पीनोजा ने अद्वैत को माना; लाइबनिज अनेक-वाद का प्रमुख समर्थक है। इन्होने तीन वादो को आपस मे बाट लिया। तत्वज्ञान मे अब भी यही तीन वाद प्रमुख है। ये तीनो विविध परिणामो पर पहुंचे, परन्तु तात्विक खोज मे इन्होने एक ही विधि को अपनाया। इन्होने मनन का सहारा लिया। तीनों का दृष्टि-कोण था :—

'बाहर के पट बन्द कर, अन्दर के पट खोल।'

अनुभववादियों का आगम-पथ

पिछले अध्याय मे जिन दार्शनिको का वर्णन हुआ है, उन्होने मनन का आश्रय लिया था, और इसकी सहायता से तत्व के स्वरूप को जानने का यत्न किया था। तत्व-ज्ञान मे अभी तक 'तत्व' प्रमुख था। अब हम ऐसे विचारको की ओर आते है, जिन्होंने 'ज्ञान' को प्रमुख स्थान दिया। उनके विचार मे तत्व का ज्ञान प्राप्त करने से पहले यह जानने की आवश्यकता है कि ज्ञान प्राप्त कैसे होता है, और इसकी पहुच कहा तक है। वर्तमान अध्याय मे तीन विचारको के मत का अध्ययन करेगे। वे तीनो ब्रिटेन के वासी थे, और दैवयोग से एक (लाक) इग्लैड मे पैदा हुआ, दूसरा (बर्कले) आयर्लैंड मे और तीसरा (ह्यूम) स्काटलैड मे पैदा हुआ। इन तीनो का सिद्धान्त यह था कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव पर निर्धारित है। इन्हे उपर्युक्त क्रम मे ही ले।

१. जान लाक

जान लाक (१६३६-१७०४) ने आक्सफोर्ड मे उच्च शिक्षा प्राप्त की। राजनीति मे पडा और गर्मदल मे शामिल हो गया। इसके फलस्वरूप उसे देश छोड़कर हालैड जाना पडा। वही उसने अपनी प्रमुख पुस्तक 'मानव की बुद्धि' लिखना आरम्भ किया। पुस्तक की रचना की कथा दिलचस्प है। लाक और उसके कुछ साथी एक सराय मे चाय-पानी के लिए एकट्ठे हुए। वहा धर्म और नीति के मौलिक नियमों पर बातचीत होने लगी, और इस प्रश्न पर आकर रुक गयी कि मनुष्य व्यापक सत्यो का ज्ञान कैसे प्राप्त करता है। लाक ने इस प्रश्न को अपने अनुसन्धान का विषय बनाने का निश्चय किया।

लाक ने यह देखना चाहा कि हम सत्य को जान कैसे सकते है, और हमारे ज्ञान की पहुंच कहा तक होती है। लाक के प्रयत्न ने तात्विक विचारधारा की दिशा को बदल दिया। जिन परिणामो पर वह पहुचा, उनसे अधिक महत्व की बात यह है कि दार्शनिक विवेचन के लक्ष्य मे परिवर्तन हो गया।

अपने विवेचन मे लाक ने न पूर्वजों की शरण ली, और न नवीन दार्शनिको की। उसने अपनी मानसिक अवस्थाओ का ध्यानयुक्त परीक्षण किया, और जो कुछ देखा, उसे सत्य स्वीकार किया। लाक ने अपने अनुसन्धान मे क्या देखा ?

लाक की शिक्षा मे प्रमुख बाते ये है :—

(१) सत् के दो रूप है—चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति। पुरुष ज्ञाता है, प्रकृति ज्ञान का विषय है।

(२) हमारा सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है। आत्मा आरम्भ मे कोरी तख्ती की तरह होती है। विकसित आत्मा का सारा ज्ञान वह लेख है, जो अनुभव उस पर अंकित करता है। हमारे ज्ञान का कोई भाग ऐसा नही, जो प्राप्त नही हुआ। अपितु पहले से इसके अन्दर विद्यमान था।

'विवेकवादी' कहते है कि हमारा अनुभव तो 'विशेष' तक सीमित होता है, परन्तु इसके अतिरिक्त हम 'सामान्य सत्य' को भी जानते है। अनुभव बताता है कि विशेष त्रिकोणों मे दो भुजाओ का योग तीसरी भुजा से अधिक होता है; परन्तु हम यह भी जानते है कि यह निर्णय सारे त्रिकोणों की बाबत, जिनका हम चिन्तन कर सकते है, सत्य है। लाक कहता है कि यह निर्णय सामान्य सत्य नही, केवल हमारा विश्वास है, जिसे वास्तविकता कभी झुठला सकती है।

(३) प्रकृति को हम उसके प्रकटनों मे देखते है। हमारा अनुभव इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, जो पदार्थो के गुणों तक सीमित है। हम यह मानने पर तो बाधित है कि गुणो का आश्रय कोई द्रव्य है, परन्तु इससे अधिक द्रव्य के स्वरूप की बाबत कुछ नही जानते। हमे बाहर से सरल बोध मिलते है; हम उन्हें मिला-जुला कर कुछ मिश्रित प्रत्यय बना लेते है। द्रव्य का प्रत्यय भी ऐसे प्रत्ययों में एक है।

(४) प्रकृति मे जो गुण अनुभूत होते है, वह दो प्रकार के है :—

(क) वह गुण जो सारे प्राकृत पदार्थो मे पाये जाते है, और जो स्थायी है।

(ख) वह गुण जो किसी पदार्थ मे पाये जाते है, और किसी मे नही पाये जाते, जो एक ही पदार्थ में कभी होते है, कभी नही होते।

इन दोनों प्रकार के गुणो को 'प्रधान' और 'अप्रधान' गुण कहते है।

प्रधान गुण ये हैं :—

अप्रवेश्यता (अभेद्यता), आकृति, विस्तार, गति या अगति।

अप्रवेश्यता का अर्थ यह है कि प्रत्येक पदार्थ किसी विशेष स्थान मे स्थित होता है, और सीमित अवकाश पर अपना अधिकार जमा लेता है। उस अवकाश में किसी अन्य पदार्थ को घुसने नहीं देता।

इन गुणो के साथ कुछ अन्य गुण भी पदार्थो मे अनुभूत होते है। ये रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, और शब्द है। ये अप्रधान गुण है।

यहां पहुंच कर लाक एक बडा पग उठाता है। वह कहता है कि प्रधान गुण तो पदार्थों मे पाये जाते है, परन्तु अप्रधान गुण कोई अमानवी स्थिति नही रखते। रूप, रस, आदि उन अवस्थाओ के नाम है, जो वाह्य पदार्थ हमारे मन मे पैदा करते है। इनका वस्तुगत अस्तित्व नही।

सुनसान जंगल मे जहा देखने-सुनने वाला कोई न हो, वृक्ष ठोस होगे, लम्बे, चौड़े और मोटे होगे, विशेष आकार रखेगे, स्थिर होंगे या हिले डुलेगे, परन्तु वहा हरापन नही होगा, कोई ध्वनि नही होगी।

डेकार्ट के द्वैतवाद को लाक ने स्वीकार किया, परन्तु अपने सिद्धान्त मे कुछ ऐसी बातें भी दाखिल कर दी, जिन्होंने द्वैतवाद के पक्ष को कमजोर कर दिया, और एक तरह से अद्वैतवाद के लिए द्वार खोल दिया। ये नयी बाते क्या थी?

(१) डेकार्ट ने कहा था कि हमे चेतन और अचेतन द्रव्य का असन्दिग्ध ज्ञान है। चेतन के अस्तित्व मे तो सन्देह हो ही नही सकता, अचेतन प्रकृति के अस्तित्व का प्रत्यय भी पूर्ण रूप मे स्पष्ट है। लाक ने कहा कि हम द्रव्य के अस्तित्व को मानने मे विवश है, परन्तु इसके स्वरूप की बाबत न कुछ जानते है, न जान सकते है।

(२) डेकार्ट ने सभी गुणो को एक स्तर पर रखा था। लाक ने उनमे प्रधान और अप्रधान का भेद किया, और अप्रधान गुणो को मन की अवस्थाएं बना दिया। इस तरह उसने प्रकृति के क्षेत्र को सीमित और पुरुष के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया।

(३) डेकार्ट ने चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति के भेद को निरपेक्ष भेद बताया था, पुरुष मे विस्तार नही हो सकता, और प्रकृति मे चेतना की सम्भावना नही। लाक ने कहा कि यदि परमात्मा चाहे तो प्रकृति को भी चेतना दे सकता है। इस विचार ने दोनों के भेद को अनावश्यक बना दिया, द्वैतवाद पर यह भी एक आघात था।

(४) डेकार्ट ने जीवात्मा, परमात्मा, और प्रकृति के अस्तित्व को 'स्पष्ट प्रत्ययो' पर निर्धारित किया था। उसके मतानुसार, जिस प्रत्यय मे अस्पष्टता का कोई अंश न हो, वह सत्य का साक्षातकार कराता है। लाक ने इसे स्वीकार नही किया, और कहा कि यह सम्भव है कि कोई प्रत्यय पूर्णरूप मे स्पष्ट हो, और इस पर भी, सत्यज्ञान देने मे असमर्थ हो। इस धारणा ने अनुभववाद मे 'अज्ञेयवाद' का बीज बो दिया।

डेकार्ट ने द्रव्य के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध को भी महत्व दिया था। लाक को घटनाओं का अनुभव तो होता था, परन्तु कारण-कार्य का सम्बन्ध नही दिखायी

देता था. यह सम्बन्ध तो इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है ही नही। उसने इतना ही कहा कि यदि हम इस सम्बन्ध को फर्ज कर ले, तो विशेष स्थितियो मे अनुभव ही हमे बताता है कि किसी कार्य का कारण क्या है। अनुभव यह नही बताता कि कार्य बिना कारण के हो नही सकता, परन्तु इसे स्वीकार कर ले, तो अनुभव से ही जान सकते है कि खाना खाने मे भूख मिटती है, और आग पर रखने से पानी उबलता है।

२ जार्ज बर्कले

लाक के बाद, दूसरा प्रसिद्ध अनुभववादी बर्कले (१६८५-१७५३) है। लाक ने अपने 'निबन्ध' को ३८ वर्ष की आयु मे आरम्भ किया, और २० वर्ष पीछे उसे प्रकाशित किया। बर्कले ने अपनी दो प्रमुख पुस्तके २५ और २६ वर्ष की आयु मे लिखी। वह शीघ्र परिपक्व होने वाले पौदो मे से था। लाक के काम पर बर्कले की टिप्पणी इतनी ही थी कि वह चला तो ठीक मार्ग पर, परन्तु थोडी दूर चल कर ही ठहर गया। जहा लाक ने छोडा था, वहा से बर्कले ने आरम्भ किया। वह लाक की अपेक्षा अधिक दृढ अनुभववादी था।

(१) लाक ने कहा था कि हम प्राकृत द्रव्य के गुणो को तो अनुभव करते है, परन्तु उस द्रव्य को अनुभव नही करते। हम उसको मानने मे बाधित है, क्योकि हमारा अनुभव, कार्य होने की स्थिति मे, किसी कारण की माग करता है, और स्वय हम यह कारण नही है। मै अब अपने सामने बरामदे की दीवार और कुछ कुर्सिया देखता हू, थोडी देर हुई, कमरे मे पुस्तके देखता था। दोनो हालतो मे मै निश्चय नही करता कि दृष्ट पदार्थ क्या होगे। मेरा प्रत्यक्ष ज्ञान मुझ पर ठूँसा जाता है। लाक प्राकृत द्रव्य का अस्तित्व मानने मे विवश था, परन्तु उस द्रव्य के स्वरूप की बाबत बिलकुल अन्धेरे मे था। बर्कले ने कहा कि जब अनुभव को अपना पथ-प्रदर्शक बना लिया है, तो किसी ऐसे द्रव्य को जो अनुभव का विषय हो ही नही सकता, मानना व्यर्थ है। हम आत्मा की सत्ता को तो अपनी हालत मे जानते ही है, क्यो न अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को किसी अन्य आत्मा की क्रिया का फल समझ ले ? इस ज्ञान के समाधान के लिए, उसने परमात्मा की शरण ली। हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान हम पर ठूसा जाता है। एक अज्ञात और अज्ञेय प्राकृत द्रव्य को मानने के स्थान मे एक आत्मा को इसका कारण मानना अधिक सन्तोपदायक है।

(२) लाक ने प्रकृति के प्रधान और अप्रधान गुणो मे भेद किया था, और कहा था कि केवल प्रधान गुण ही बाह्य पदार्थो मे विद्यमान है। हम पदार्थों को पहचानते

कैसे हैं ? इनका रूप-रंग, इनका स्थान, इनका परिमाण बदलते रहते हैं। हम प्रायः इनकी आकृति पर भरोसा करते हैं। जो कुछ लाक ने अप्रधान गुणों की बाबत कहा था, वही प्रधान गुणो की बाबत भी कह सकते हैं। एक हाथ को गर्म पानी में रखें, दूसरे को ठंडे पानी में रखें। फिर दोनों हाथों को तीसरे पात्र के पानी मे डालें। पानी एक हाथ को गर्म और दूसरे को ठंडा प्रतीत होगा। एक समय पर, वही पानी गर्म और ठंडा नही हो सकता; इसलिए गर्मी और ठंडक पानी मे हैं ही नही, ये हमारे मन की अवस्थाएं हैं। बर्कले ने लाक की इस युक्ति की पुष्टि की, परन्तु यह भी कहा कि आकृति के सम्बन्ध मे इसी प्रकार की कठिनाई से निपटना होता है। मेज एक स्थान से समकोण चतुर्भुज दिखायी देती है। उसे अन्य स्थान से देखे, तो उसके दो कोण समकोण से छोटे और दो बडे दिखायी देते हैं। चतुर्भुज एक साथ समकोण और असमकोण नही हो सकता। इसलिए आकृति वाह्य पदार्थों मे नही, देखने वाले के मन की अवस्था है। अन्य प्रधान गुण आकृति से अलग नही हो सकते; इसलिए वे भी मानसिक अवस्थाएं ही हैं। प्रकृति के सारे गुण, प्रधान व अप्रधान मानसी अस्तित्व ही रखते हैं। सारी सत्ता आत्माओं और उनके ज्ञान की है। अन्दर और बाहर का भेद कल्पना-मात्र है।

(३) इस तरह बर्कले अनुभववाद को लाक की स्थिति से आगे ले गया, और द्वैतवाद का स्थान अद्वैतवाद ने ले लिया। बर्कले के सिद्धान्त मे प्रमुख धारणा यह है कि 'अनुभूत पदार्थों का अस्तित्व उनके अनुभूत होने मे है।' मैं थोडी देर हुई बाजार की ओर गया था। वहा मैंने कई दूकाने देखी, मार्ग पर कई वृक्ष देखे। उस समय अपने मकान को नही देखा। अब मकान में बैठा हुआ बाजार की दूकानो और मार्ग के वृक्षों को नही देखता। प्रश्न उठता है कि यदि पदार्थों का अस्तित्व उनके अनुभूत होने में है, तो जो कुछ मैं अब नही देखता, वह विद्यमान है, या विनष्ट हो गया है। बर्कले कह सकता है कि जब मैं नही देखता, तो और देखने वाले देखते हैं। मैं अपने कमरे को बन्द करके सोता हूं; कोई और मनुष्य उस कमरे में नही होता। कमरे का सामान और पुस्तके, स्वयं मेरा शरीर, निद्राकाल मे कमरे मे मौजूद रहते है, या मेरे सोते ही विनष्ट हो जाते हैं, और जागते ही फिर पहली अवस्था मे प्रकट हो जाते हैं? बर्कले कहता है कि यह वस्तुए निरन्तर परमात्मा के ज्ञान मे स्थिर रहती हैं। इस तरह वह इस विश्वास को कि पदार्थों का अस्तित्व क्षणिक नही, अपने सिद्धान्त से मिलाता है।

(४) बर्कले अपनी प्रमुख पुस्तक 'मानषी ज्ञान के नियम' को इन शब्दो से आरम्भ करता है :—

'जो कोई भी मानुषी ज्ञान के विषयो की जाच करता है, उसे स्पष्ट दिखायी देता है कि ये विषय तीन प्रकार के अनुभवों में से होते है :—

(१) वह अनुभव जो ज्ञान-इन्द्रियो पर अंकित होते है,

(२) वह अनुभव जो हमे अपने मन के उद्वेगो और क्रियाओ की ओर ध्यान करने से होते है,

(३) वह अनुभव जिन्हे हम, स्मृति और कल्पना की सहायता से, उपर्युक्त दो प्रकार के अनुभवो के सयोग, वियोग, या निरे स्मरण से, बनाते है।

यह सब कुछ तो ज्ञात है। ज्ञाता कहा है? हम यह कैसे जानते है कि जानने वाली आत्मा भी विद्यमान है? बर्कले कहता है कि ज्ञाता का 'अनुभव' नही हो सकता : अनुभव का तत्व क्रिया-विहीनता है, और ज्ञाता वा आत्मा का तत्व क्रियाशीलता है। हमें अपने अस्तित्व का 'बोध' होता है, परन्तु यह बोध 'अनुभव' से भिन्न है। बर्कले ने मानुषी 'ज्ञान' को अपनी खोज का विषय बनाया था, इसलिए ज्ञाता की ओर अधिक ध्यान नही दिया। अपनी आत्मा की तरह, हमे अन्य आत्माओ का भी 'बोध' ही होता है · कोई 'अनुभव' उनका चित्र नही हो सकता। बर्कले आत्मिक अनेकवाद मे विश्वास करता है, परन्तु यह समझना कठिन है कि मेरे ज्ञान के समाधान के लिए, मेरी आत्मा और परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य आत्मा की आवश्यकता क्यो है।

(५) मुझे विशेष घोडो का ज्ञान उनके गुणो से होता है; विशेष पर्वतो का ज्ञान उनके गुणो से होता है। बर्कले ने यह सिद्ध करने का यत्न किया कि ये सब गुण हमारी मानसिक अवस्थाएं ही है, इनकी नीव पर जो प्राकृत द्रव्य का प्रत्यय स्वीकृत था, वह अनावश्यक है। परन्तु यह भी कह सकते है कि विशेष घोड़ो के ३.तिरिक्त हम 'घोड़े' का ध्यान भी कर सकते है; विशेष पर्वतो के अतिरिक्त हम 'पर्वत' का ध्यान भी कर सकते है। यह प्रत्यय 'सामान्य प्रत्यय' है। अनेक पदार्थो को देखकर हम 'द्रव्य' का सामान्य प्रत्यय बनाते है। घोड़े विशेष घोड़ो को देखते है, उन्हे पहचान भी लेते है; परन्तु उन्हे 'घोडे' का प्रत्यय बनाने की सामर्थ्य नही। दो घोडो, दो कुत्तों का उन्हे बोध होता है, परन्तु अविशेष 'दो' का बोध नही हो सकता। मनुष्यों में अविशेष या सामान्य प्रत्यय बनाने की योग्यता है। वह यह चिन्तन भी कर सकते है कि 'दो और दो चार होते है।' लाक ने इस योग्यता को बहुत महत्व दिया था, और कहा था कि यह योग्यता ही मनुष्यो को पशुओ से प्रमुख रूप मे विभिन्न करती है। बर्कले ने इस योग्यता के भाव को स्वीकार नही किया। उसने कहा कि घोड़े तो है, और हम उन्हे देखते है, और उनकी अनुपस्थिति मे, उनका चित्र मन मे व्यक्त कर सकते है। इनके अतिरिक्त 'घोडा' एक नाम ही है, जिसे हम विशेष घोड़ों के

लिए बर्तते है। लाक 'प्रत्ययवादी' था, बर्कले 'नामवादी' था। अनुभव मे हमे घोडो का ज्ञान होता है; 'घोड़े' का ज्ञान नही होता। विशेष घोडे या कोई अन्य विशेष पदार्थ तो मानसी अस्तित्व ही रखते है। यदि विशेषों के अतिरिक्त सामान्य को नाम-मात्र ही माना जाय, तो प्राकृत द्रव्य के मानने की आवश्यकता ही नही रहती। इस तरह 'नामवाद' की सहायता से बर्कले ने लाक के द्वैतवाद को निराधार जाहिर करने का यत्न किया।

३. डेविड ह्यूम

अनुभववादियो मे तीसरा बड़ा नाम डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) का है।

(१) बर्कले ने लाक के काम की बाबत कहा था कि वह चला तो ठीक मार्ग पर, परन्तु थोड़ी दूर चल कर ठहर गया। ह्यूम ने बर्कले के काम पर इसी प्रकार का निर्णय दिया। बर्कले लाक के मार्ग पर चलकर, लाक से कुछ आगे बढा, परन्तु वह भी, मार्ग के अन्त तक पहुचने के स्थान मे, बीच मे ही ठहर गया। ह्यूम ने यत्न किया कि अनुभववाद के अन्तिम नैय्यायिक परिणाम तक पहुचे, चाहे वह परिणाम कुछ ही हो।

ह्यूम ने भी अपनी बडी पुस्तक 'मानव प्रकृति' २६ वर्ष की आयु से पहिले लिखी। उस समय किसी ने इसकी ओर ध्यान नही दिया। इस ख्याल से कि पुस्तक की शैली रूखी और कठिन है, उसने १० वर्ष पीछे इसे सरल और आकर्षक बनाने का यत्न किया। यह यत्न भी असफल रहा।

ह्यूम कहता है कि मनुष्यो की बडी सख्या नियत कार्य करने और जीवन को सुखी बनाने मे ही सन्तुष्ट होती है। जो लोग इससे सन्तुष्ट नही होते, उनके लिए 'अन्ध-विश्वास' और 'तर्क' दो मार्ग ही खुले होते है। इन दोनो मे प्रत्येक अपनी 'रुचि' के अनुसार चुनाव करता है। दार्शनिक भी विवेचन को बुद्धि के नेतृत्व मे नही, अपितु रुचि की प्रेरणा से अपनाता है। जब यह चुनाव हो जाता है, तो दार्शनिक का काम है कि अपने विचार मे बुद्धि को ही प्रमुख रखे। ह्यूम ने निश्चय किया कि वह मनुष्यो को अन्ध-विश्वास से विमुक्त करके तर्क की शरण मे लायेगा।

(२) डेकार्ट के दार्शनिक विचार मे दो प्रत्यय प्रमुख थे :—द्रव्य और कारण-कार्य सम्बन्ध। उसके बाद भी दार्शनिक विचार इन प्रत्ययो के गिर्द घूमता रहा। बर्कले ने द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार किया; यद्यपि केवल आत्मा को ही द्रव्य का पद दिया। उसने कारण-कार्य सम्बन्ध को भी स्वीकार किया, और कहा कि अनुभव तो सारे कार्य-रूप ही है; केवल द्रव्य ही कारण या कर्त्ता है। ह्यूम ने जानना चाहा कि क्या अनुभववाद इन दोनों धारणाओ को स्वीकार कर सकता है। पहले द्रव्य को ले।

बर्कले ने लाक के विरुद्ध सामान्य प्रत्यय के अस्तित्व से इन्कार किया था और कहा था कि जब हम 'घोड़े' या 'त्रिकोण' का चिन्तन करते है, तो किसी विशेष घोड़े या त्रिकोण का चित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो जाता है। जब हम इसकी विशेषता का ध्यान नही करते, और इसे वर्ग के प्रतिनिधि के रूप मे देखते है, तो इस विशेष चित्र को सामान्य प्रत्यय समझने लगते है। ह्यूम ने बर्कले के नामवाद को अपनाया, और इसे बर्कले के विरुद्ध प्रयुक्त किया। बर्कले ने आत्मा को द्रव्य माना था। ह्यूम कहता है कि अनुभववाद इस धारणा की पुष्टि नही करता। वह कहता है—

'हमारे सारे अनुभव एक दूसरे से जुदा है, हम उनमे भेद कर सकते है; वह एक दूसरे से अलग हो सकते है; हम उनकी बाबत अलग अलग चिन्तन कर सकते है। उन्हे किसी आलम्बन या आश्रय की आवश्यकता नही। मेरा अनुभव तो यह है कि जब अपने आप मे निकटतम प्रवेश करता हू, तो मै सदा किसी विशेष अनुभव—गर्मी, सर्दी, प्रकाश, छाया, प्रेम-द्वेष, दु:ख-सुख से भेट करता हू। मै कभी अपने आपको किसी विशेष अनुभव की अनुपस्थिति मे, पकड नही सकता, न ही अनुभव के अतिरिक्त किसी वस्तु को देख सकता हूं।'

ऊपर के परिच्छेद मे आठ बार 'मै' और 'हम' का प्रयोग हुआ है। आख सब कुछ देखती है, अपने आपको नही देखती। शीशे में भी अपने बिम्ब को देखती है, अपने आपको नही देखती। हाथ अन्य पदार्थो को तोलता है, अपने आप को तोल नही सकता। ह्यूम ने द्रष्टा को दृश्यो मे देखना चाहा, और उसे वहा नही देखा।

ह्यूम इस परिणाम पर पहुचा कि जिस तरह प्राकृत पदार्थ गुण-समूह ही है, उसी तरह आत्मा भी चेतना-अवस्थाओ का पुज है। आत्मा उनसे अलग कुछ नही। इस तरह, ह्यूम ने द्रव्य को अस्तित्व से खारिज कर दिया। महाद्वीप के तीनो विवेचकों ने इसे प्रधान प्रत्यय स्वीकार किया था। अनुभववादी लाक और बर्कले ने भी इसे माना था। ह्यूम ने कहा कि अनुभववाद मे द्रव्य के लिए कोई स्थान नही।

डेकार्ट का दूसरा प्रमुख प्रत्यय कारण-कार्य सम्बन्ध था। लाक और बर्कले दोनो इसे स्वीकार करते थे। ह्यूम ने कहा—'अनुभववाद इसकी बाबत भी निश्चित ज्ञान नही दे सकता।' 'हमारे सारे अनुभव एक दूसरे मे जुदा है।' जब हम एक घटना क को अनेक बार घटना ख के पूर्व होता देखते है, तो उसे ख का कारण कहने लगते है। हमारा निर्णय हमारे मन की वृत्ति को व्यक्त करता है, जिसके कारण अभ्यास हमारे दृष्टि-कोण को बदल देता है; वास्तविकता के स्वरूप को नही दर्शाता। यदि घटना ख को कारण क की आवश्यकता है, तो क को भी एक कारण की आवश्यकता है, और उस कारण को और कारण की, यह परिपाटी तो कभी समाप्त

ही नहीं होगी। फिर हमने यह फर्ज कर लिया है कि क और ख के बीच मे और कोई घटना नही हुई। हो सकता है कि उनके दर्मियान क' क'' क'''. . .अनेक घटनाए हुई हों, और हमे उनका ज्ञान न हो। जब मैं किसी का शब्द सुनता हू, तो उसके बोलने और मेरे सुनने के दर्मियान, वायु-मंडल में और मेरे शरीर में अनेक घटनाएं होती है। कारण-कार्य का सम्बन्ध होता होगा; हमारा अनुभव इसकी बाबत निश्चित रूप से नही बताता।

ह्यूम ने यह नही कहा कि द्रव्य का अभाव है, न यह कि कारण-कार्य का अभाव है। इतना ही कहा कि हमारा अनुभव इनकी बाबत नही बताता।

(३) ह्यूम कहता है कि हमारे ज्ञान के तीन स्रोत हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और कल्पना। प्रत्यक्ष अनुमान और कल्पना दोनों का आधार है। इसलिए इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्यक्ष के बाद उसका चित्र भी प्रस्तुत हो जाता है। मौलिक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' और 'चित्र' के रूप मे ही होता है। लाक और बर्कले ने इन दोनो के लिए एक ही शब्द (आइडिया) का प्रयोग किया था, ह्यम ने इन दोनो मे भेद किया। प्रत्यक्ष क्षणिक होता है, और किसी विशेष घटना का होता है। हम समझते है कि जो भवन कल देखा था, और आज फिर देखा है, वह अन्तर मे भी बना रहा है। हमारी बुद्धि यह बता नही सकती कि बना रहा है, या नही। दोनो स्थितिया सम्भव है। हमारी कल्पना व्यावहारिक दृष्टि से देखकर कहती है—'यही मानना अच्छा है कि भवन अन्तर मे बना रहा है।' कल्पना ही अनेक मानसी अवस्थाओ को एक सूत्र मे पिरो कर, मन या आत्मा का प्रत्यय देती है। यह बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर है कि वह इन प्रश्नो का उत्तर निर्णीत हा या नामे दे सके।

ह्यूम सन्देहवादी था। कुछ पुराने सन्देहवादी तो इतना कहने मे भी हिचकिचाते थे कि वर्षा हो रही है; वह कहते थे—'ऐसा प्रतीत होता है कि वर्षा हो रही है।' ह्यूम का सन्देहवाद इतनी दूर नही गया। वह कहता था कि जो ज्ञान सीधा, प्रत्यक्ष अनुभव है, वह तो असन्दिग्ध है। 'मुझे हरेपन का भास होता है,' 'मुझे यह हा रहा है।' जब मै इससे आगे जाता हूं, तो अनुमान को या कल्पना को बर्तने लगता हू, और इनमे भूल की सम्भावना आ जाती है। जो लोग कहते है कि गणित, नीति या किसी अन्य क्षेत्र मे, १००% सत्य जानने की सम्भावना है, वह बुद्धि की सीमाओ को नही पहचानते। हमारे ज्ञान में सम्भावना की वृद्धि होती है; पूर्ण निश्चितता प्राप्त नही होती। जिस उच्च स्तर पर विवेचकों ने बुद्धि को बिठाया था, ह्यूम ने उससे उसे नीचे खीच लिया। केवल एक सत्य को ही उसने स्पष्ट देखा, और वह यह था कि पूर्ण सत्य हमारी पहुंच से परे है।

ह्यूम की प्रमुख धारणा यह थी कि, जहा तक हम जान सकते है, सारी सत्ता प्रकटनो की है, और यह प्रकटन हमारे 'अनुभव' और उनके 'चित्र' है। द्रव्य की स्थिति में, आत्मा की कोई सत्ता नही; यह चेतना अवस्थाओ की पंक्ति है। यहां प्रश्न होता है कि इसके पंक्ति होने का ज्ञान किसे होता है? चेतना धारा के रूप में सर्वदा बहती रहती है। कोई दो अवस्थाएं एक साथ विद्यमान नही होती और किसी पक्ति को यह ज्ञान नही हो सकता कि वह पक्ति है। अवस्थाओ का एक दूसरे के पीछे आना एक बात है, एक दूसरे के पीछे आने का ज्ञान दूसरी बात है। पंक्ति के पक्ति होने का ज्ञान किसी ऐसे ज्ञाता को ही होता है, जो पक्ति के बाहर स्थित हो।

ह्यूम कहता है कि अनुभवो के अतिरिक्त उनके चित्र भी हमारे ज्ञान मे विद्यमान है। हम इन चित्रो को चित्र कैसे पहचानते है? स्वप्न मे हम यह भेद नही करते; जागरण मे तो करते ही है। यह भेद स्मृति की सहायता से होता है। मै अपने मकान को, अपने सामान को, अपने मित्रो को पहचानता हू। मुझे याद है कि मै कल गगा-पुल पर गया था। यह ज्ञान तो उसे ही हो सकता है, जो कल भी ज्ञाता था, और आज भी ज्ञाता है। वही अनुभव और उसके चित्र को देखकर उनकी समानता असमानता की बाबत कह सकता है। विलियम जेम्स ने ठीक कहा है कि अनुभववाद को 'स्मृति मागनी पडती है।' स्मृति हमारे ज्ञान मे एक असन्दिग्ध अश है, और अनुभववाद इसका समाधान नही कर सकता।

ह्यूम ने अनुभववाद को इसके तार्किक अन्त तक पहुचा दिया। काट ने देखा कि जिस मार्ग पर अनुभववाद चला था, उसका फल यही होना था। उसने विवेचनवाद और अनुभववाद के समन्वय से एक नया पथ प्रस्तुत किया। ह्यूम की बडी सेवा यही थी कि उसने काट के लिए मार्ग साफ किया।

अनुभववाद के उत्थान को देखकर कहा जाता है कि 'लाक के अभाव मे बर्कले न होता, बर्कले के अभाव मे ह्यूम न होता, और ह्यूम के अभाव में काट न होता।'

अनुभववादी सत् की खोज मे निकले थे, खोज करते-करते ऐसे बियाबान मे जा पहुंचे, जहां अपने आपको ही खो बैठे।

अद्वैतवाद

पिछले दो अध्यायो मे हमने महाद्वीप के तीन तत्व-विवेचको और इग्लेंड के तीन अनुभववादियों के विचारो का कुछ अध्ययन किया है। दोनो तथ्यो की हालत मे विचार के उत्थान मे एक दिलचस्प समानता दिखायी देती है।

तत्वविवेचक : डेकार्ट, स्पीनोजा, लाइबनिज।

अनुभववादी : लाक, बर्कले, ह्यूम।

डेकार्ट और लाक दोनो द्वैतवादी थे। स्पीनोजा, और बर्कले दोनो अद्वैतवादी थे। लाइबनिज और ह्यूम दोनो अनेकवादी थे, लाइबनिज असख्य तात्विक-विन्दुओ मे विश्वास करता था; ह्यूम असख्य प्रकटनो मे विश्वास करता था। इस तरह, दोनो हालतों मे हम द्वैतवाद से आरम्भ करते है, दूसरी मजिल मे, अद्वैतवाद पर पहुंचते है; और अन्त में, अनेकवाद पर जा टिकते है। अभी तक हमने अपने अध्ययन को विशेष विचारको तक सीमित रखा है, परन्तु ये दृष्टिकोण तत्वज्ञान मे व्यापक से बने रहे है। अब हम सीमाओ से विमुक्त होकर, इन मतो पर विचार करे। पहले अद्वैतवाद को लें।

अद्वैतवाद के तीन प्रमुख रूप है :—

१ प्रकृतिवाद,

२ आत्मवाद,

३ स्पीनोजा का एकवाद।

स्पीनोजा के मत पर तो कह चुके है, पहले दो मतो पर यहा कुछ कहेगे।

१. प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद अपने उत्थान मे तीन मंजिलों से गुजरा है। पहिली मंजिल मे, यह तत्व-विवेचकों के विचार का विषय था। दूसरी मंजिल मे, इसने विज्ञान और शिल्प-विद्या के प्रभाव में नया रूप धारण किया। तीसरी मंजिल में, मानवी विद्याओं के आविर्भाव ने इसे एक और रूप दे दिया।

१. प्राचीन प्रकृतिवाद

प्राचीन प्रकृतिवाद 'परमाणुवाद' के रूप मे प्रकट हुआ। बाह्य जगत में हम जो कुछ देखते है, वह परिमाण रखता है। हम ईट को तोड़ कर दो टुकड़े करते हैं। इन टुकडों को भी तोड सकते है। क्या ऐसे विभाजन का कोई अन्त नहीं? परमाणुवादियों का ख्याल था कि वास्तविक क्रिया में ही नही, कल्पना में भी हम कही न कही जाकर रुक जाते हैं। प्रकृति का वह अंश जो आगे विभाजित नही हो सकता, परमाणु कहलाता है। परमाणुवाद के अनुसार, परमाणु ही सत् है, जो कुछ भी हमें दिखायी देता है, परमाणुओं के संयोग का फल है।

सयोग होता कैसे है? संयोग के लिए आवश्यक है कि परमाणु अपने स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर पहुंचे। इस तरह परमाणुओं के अतिरिक्त, खाली आकाश और गति का अस्तित्व भी मानना पड़ता है। परमाणु और अवकाश तो नित्य है, गति कैसे होती है? परमाणुवाद के अनुसार, सारे परमाणु अपने बोझ के कारण ऊपर से नीचे को गिरते है। परमाणुओ मे छोटे-बड़े का भेद है। बडे परमाणु अपने बोझ की अधिकता के कारण, अधिक वेग से गिरते हैं, और हलके परमाणुओं को आ पकड़ते है। ऐसा परमाणुवाद के प्रसिद्ध समर्थक डिमाक्राइटस का मत था। अब विज्ञान बताता है कि भारी और हलकी वस्तुए शून्य में एक ही वेग से गिरती हैं। किसी तरह डिमाक्राइटस के पीछे आने वाले परमाणुवादियों को भी इस तथ्य का पता लग गया। ऐसी स्थिति मे तो यह सम्भव ही नही कि कोई दो परमाणु अपनी गति मे मिल सकें। इस कठिनाई से बचने के लिए, उन्होने कहा कि परमाणु पूर्ण लम्ब रूप मे नही गिरते; अपितु गिरते हुए अपने मार्ग को कुछ बदल सकते है, और इस तरह संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। इस कल्पना से संयोग की समस्या तो हल हो गयी, परन्तु एक और कठिनाई उठ खडी हुई। प्रकृतिवाद स्वाधीनता को स्वीकार नही करता। इसी बुनियाद पर वह आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करता है।

यदि परमाणु भी बीज रूप मे स्वाधीनता रखते है, तो विकसित रूप मे यह आत्माओ में क्यो नही हो सकती?

परमाणुवादी परमाणुओ मे परिमाण और आकृति का भेद मानते थे। इन दोनों और स्थिति के मेल से, प्राकृत पदार्थों मे गुण-भेद प्रकट होता है। अग्नि समतल और गोल परमाणुओं से बनती है। आत्मा भी ऐसे परमाणुओ का संघात है, और विशुद्ध और सूक्ष्म अग्नि ही है।

२. वैज्ञानिक प्रकृतिवाद

विज्ञान की उन्नति ने कला-कौशल को जन्म दिया। नवीन युग को कला-युग या मशीन का युग कहा जाता है। मशीन को बनाता तो मनुष्य है परन्तु जब यह बन जाती है, तो मनुष्य इसका हथियार सा बन जाता है। प्राचीन परमाणुवाद के सम्मुख विश्व की बनावट का प्रश्न मुख्य प्रश्न था। वैज्ञानिक प्रकृतिवाद के लिए स्वयं मनुष्य विशेष महत्व का प्रश्न बन गया है। मनुष्य भी प्रकृति का एक टुकडा ही है, या इसमे कुछ अधिक है?

वैज्ञानिक प्रकृतिवाद तीन धारणाओ पर आधारित है :—

(१) मनुष्य अंगों और इन्द्रियों का संघात ही है; इसमे स्वतन्त्र चेतन तत्व कोई नही। सब कुछ प्रकृति का ही खेल है। प्रकृति के उत्थान मे, एक मंजिल पर 'जीवन' प्रकट हो जाता है; उसके पीछे, एक और मंजिल पर चेतना प्रकट हो जाती है।

(२) विश्व मे नियम का राज्य व्यापक है। मनुष्य भी सर्वथा नियम के अधीन है। स्वाधीनता का वास्तविक अस्तित्व कुछ नही; यह भ्रम ही है।

(३) जो नियम संसार को नियमित करता है, वह स्वय प्रकृति का नियम है; किसी चेतन शक्ति का लागू किया हुआ नही। ससार मे किसी 'प्रयोजन' का पता नही चलता। विज्ञान क्रम का अध्ययन करता है; उद्देश्यो या प्रयोजनो के झमेले मे नही पड़ता।

इन तीनों धारणाओ पर विचार करने की आवश्यकता है।

(१) जैसा हम देख चुके है, परमाणुओ की एकमात्र क्रिया गति या स्थान-परिवर्तन है। कुछ प्रकृतिवादी कहते है कि चिन्तन गति का ही रूप है, कुछ कहते है कि यह गति के साथ उत्पन्न होने वाला एक प्रकटन है, जैसा दौडती रेलगाड़ी के साथ दौडती छाया, या काम करते हुए इंजन के साथ शोर होता है। चिन्तन को हम सब जानते है, अन्य सब वस्तुओं से वेहतर जानते है। चेतना और स्थान-परिवर्तन मे कोई समानता नही। प्रकृति और चेतना मे इतना अन्तर है, जितना और कही दिखायी नही देता। फ्रास के दार्शनिक हेनी बर्गसाँ ने चेतना का अच्छा विश्लेषण किया है। इसके अनुसार, चेतना मे निम्न चिह्न पाये जाते है :—

(क) चेतना-अवस्थाएं अस्थिरता का नमूना है। कोई अवस्था क्षण भर के लिए भी नही ठहरती। नदी की तरह, चेतना निरन्तर प्रवाह में ही रहती है।

(ख) कोई दो चेतना-अवस्थाएं पूर्ण रूप मे एक जैसी नही होती। जो अवस्था अभी गुजरी है, वह सदा के लिए भूत का भाग बन गयी है; वह लौट कर आ नही सकती।

कोई अन्य अवस्था इसकी पूरी नकल नही हो सकती। नयी और पुरानी अवस्थाओं की पूर्ण समानता के लिए, दो बातों की आवश्यकता है—एक यह कि जो वस्तु ज्ञान का विषय है, उसमें कोई परिवर्तन न हो, दूसरे यह कि ज्ञाता मे परिवर्तन न हो। यह शर्ते पूरी नही होती।

(ग) जो अवस्था गुजरती है, वह भूत काल का भाग तो बन जाती है, परन्तु उसका विनाश नही होता। भूत का अस्तित्व बना रहता है। जैसे बर्फ का गोला पहाड की बगल से लुढकता हुआ अपना अस्तित्व कायम रखता है, और मात्रा मे बढता जाता है, वैसे ही चेतना अपनी गति मे अपने भूत को अपने साथ लिये चलती है। जो कुछ भी मैंने अभी तक पढा है, वह सब मुझे स्मरण नही, परन्तु मेरे ज्ञान मे प्रविष्ट है। जो कुछ मैंने किया है, वह मेरे चरित्र मे विद्यमान है। इसीको वृद्धि कहते है। चेतन प्राणियो का इतिहास होता है—वह बालक से युवक बनते है, और युवक से वृद्ध होते है।

अब देखे कि क्या यह चिह्न प्रकृति मे पाये जाते है। प्रकृतिवाद के अनुसार परमाणुओ मे परिवर्तन नही होता। वे स्थिरता के नमूने है। चेतना मे यही नहीं होता कि एक अवस्था के पीछे दूसरी आती है, अपितु एक ही अवस्था मे भी प्रवाह दिखायी देता है।

चेतना में गति एक ही दिशा मे होती है, इसके उलटा चलने की सम्भावना ही नही। प्रकृति की हालत मे यह होता ही रहता है। पानी समुद्र से भाप के रूप में उठता है, बादल बनता है, और वर्षा होने के पीछे फिर समुद्र मे पहुच जाता है। सृष्टि और प्रलय, प्रलय और सृष्टि, यह क्रम चलता रहता है।

चेतना का तीसरा चिह्न वृद्धि या उन्नति है। वृद्धि के साथ मेरा ज्ञान अधिक ही नही होता, इसमे गुण-सम्बन्धी परिवर्तन भी होता है। प्रकृति मे ऐसा परिवर्तन नही होता। प्राकृत पदार्थ का कोई इतिहास नही होता।

इस तरह चेतना के प्रमुख चिह्न प्रकृति में विद्यमान नही। हम यह स्वीकार नही कर सकते कि चेतना गति या इसके प्रकटन से भिन्न कुछ नही।

(२) प्रकृतिवाद की दूसरी धारणा यह है कि सारे संसार में नियम का राज्य है, और स्वाधीनता के लिए कोई स्थान नही। संसार में शक्ति की एक मात्रा मौजूद है। यह रूप बदलती रहती है, बढती-घटती नही। गति, ज्योति, गर्मी आदि सब एक शक्ति के ही रूप है।

शक्ति की स्थिरता का नियम परीक्षा किया हुआ तथ्य नही, वैज्ञानिकों की प्रतिज्ञा या कल्पना है, जिसे उसकी उपयोगिता की नींव पर स्वीकार कर लिया गया

है। जब मैं चाहता हूं कि लिखना आरम्भ करूं, तो लिखने लगता हू। मै समझता हूं कि मेरा लिखना मेरी इच्छा का परिणाम है। प्रकृतिवाद के अनुसार यह भ्रम है। हुआ केवल यही है कि प्राकृत शक्ति अन्य रूप से मेरी क्रिया के रूप मे व्यक्त होती है। ऐसा ही होगा, परन्तु मेरा ज्ञान कहा से प्रकट हो जाता है? इसमें भी कुछ प्राकृत शक्ति ने एक नया रूप धारण किया है। प्राकृत शक्ति की निश्चितता तो प्राकृत शक्ति को एक बन्द वृत्त बनाती है, न कुछ बाहर से इसमे आता है, न इससे बाहर जाता है। ज्ञान की उत्पत्ति इस शक्ति का वृत्त से बाहर चला जाना है। मेरा कर्म नहीं, तो मेरा ज्ञान तो प्राकृत शक्ति की निश्चितता का खण्डन कर देता है।

यदि हम मान भी ले कि शक्ति की मात्रा नियत है, तो भी हमारे करने के लिए कुछ रहता ही है। जब इंजीनियर नहर खोदता है, तो जल को यह आदेश नही देता कि वह आकर्षण-नियम का उल्लंघन करे, वह उसे इतना ही कहता है—'चलो नियमानुकूल, परन्तु ऐसी दिशा में चलो, जिसे हम चुनते हैं।' टामस हक्सले ने कहा था 'मनुष्य को जीवन के व्यवहार के लिए दो विश्वासो की ही आवश्यकता है—एक यह कि हमारे लिए प्रकृति की व्यवस्था को समझने की असीम सम्भावना है, और दूसरी यह कि घटनाओं के क्रम को, निश्चित करने मे हमारे संकल्प का भी कुछ भाग है।'

(३) प्रकृतिवाद की तीसरी धारणा यह है कि जगत मे प्रयोजन का कही पता नही चलता, जो कुछ हो रहा है, निष्प्रयोजन हो रहा है। विज्ञान का काम तीन प्रश्नों का उत्तर देना है—'क्या, कैसे, और क्यो?' तीसरा प्रश्न घटनाओ के समाधान की बाबत है। विज्ञान ने समाधान के एक रूप को अपनाया है। यह देखने का यत्न किया जाता है कि घटना के पहले अन्य कौन सी घटनाएं हुई थी, जिनमे से किसी की अनुपस्थिति मे यह घटना न होती। विज्ञान अपने समाधान के लिए पीछे की ओर देखता है। मानसी विद्याएं आगे की ओर देखती है। मै यह लेख क्यो लिख रहा हूं? भौतिक विज्ञान कहता है कि कुछ हरकत मेरे मस्तिष्क मे हुई थी; उसने क्रिया-तन्तुओ से गुजर कर, कुछ पट्ठो को गतिशील कर दिया है। मनोविज्ञान मे यही प्रश्न पूछे, तो वह कहता है कि मै कुछ लोगो से मानसिक सम्पर्क स्थापन करने के लिए लिख रहा हूं। मनोविज्ञान पीछे की ओर नही, आगे की ओर देखता है।

क्या वास्तव मे मेरे जीवन मे प्रयोजन मौजूद है? मै यदि कुछ जानता हूं, तो यह भी जानता हूं कि मै प्रयोजन-सिद्धि के लिए यत्न करता हूं। सकल्प मानसिक जीवन का एक प्रसिद्ध अंश है। विकासवाद ने प्रकृतिवाद को बड़ा सहारा दिया। विकास एक निरन्तर परिवर्तन है। यह परिवर्तन अनियमित है, या निश्चित दिशा में

गति है ? डार्विन ने 'संघर्ष' पर बहुत बल दिया। सघर्ष तो होता ही किसी उद्देश्य के लिए है। विकास निरी गति नही, प्रगति है,—प्रगति के अतिरिक्त दो और चिह्न प्रयोजन का पता देते हैं—एकीकरण और विशिष्टता।

बच्चा पैदा होता है। उसके लिए उपयोगी खाद्य, दूध के रूप मे, माता के स्तनों मे प्रकट हो जाता है। स्वयं उसमे दूध चूसने की योग्यता विद्यमान हो जाती है। माता ने चूसने की शक्ति बच्चे को नही दी, बच्चे ने माता के शरीर मे दूध का उत्पादन नही किया। जीवन को कायम रखने के लिए यह एकीकरण हुआ है। एक और उदाहरण। मैंने कल और परसो भूख मिटाने के लिए खाना खाया था। आज फिर ऐसा ही करूंगा। स्मृति मुझे इसमे सहायता देती है। परन्तु स्मृति की सहायता उसी हालत मे काम आ सकती है, जब वाह्य जगत मे कारण-कार्य सम्बन्ध की एकरूपता बनी रहे। स्मृति के अभाव मे यह एकरूपता, और एकरूपता के अभाव में स्मृति लाभकारी नही हो सकती।

विशिष्टता से काम करने मे आसानी होती है, और काम अच्छा भी होता है। कुदरत मे विशिष्टता के उदाहरण हर ओर मिलते हैं। आख के घटक केवल देखने में सहायक होते है; कान के घटक सुनने मे। विकास का अर्थ ही यह है कि समानता के स्थान मे विभिन्नता उत्पन्न हो, हरेक भाग अपने काम मे विशेषता प्राप्त करे, और सारे एक ही उद्देश्य की पूर्त्ति मे सहयोग दे।

अन्त मे हम कहना चाहते हैं कि यदि प्रकृतिवाद की धारणा ठीक भी है, तो हमे इसका ज्ञान नही हो सकता। प्रकृतिवादी कहता है कि प्रकृतिवाद सत्य सिद्धान्त है। वह अपने मस्तिष्क मे होने वाली एक हरकत का वर्णन करता है। मै कहता हूं कि प्रकृतिवाद असत्य सिद्धान्त है। मै अपने मस्तिष्क की एक हरकत का वर्णन करता हूं। हम दोनो मे मत-भेद कहा है ? वह एक घटना की बाबत कहता है, मै दूसरी घटना की बाबत कहता हूं। जिस वृत्त मे प्रकृतिवाद हमे बन्द कर देता है, उसमे घटनाएं तो है, सत्यासत्य-परख की कसौटी वहा हो ही नही सकती।

३. ऐतिहासिक प्रकृतिवाद

इतिहास भूतकाल की घटनाओ की कथा है। ये घटनाए एक विशेष क्रम मे हुई हैं। क्या यह आवश्यक था कि ये इसी क्रम मे होती ? या इनका क्रम भिन्न भी हो सकता था ? जो लोग कहते हैं कि गति एक निश्चित लक्ष्य की दिशा मे हुई है, वह 'इतिहास की फिलासोफी' मे विश्वास करते हैं। हीगल ने इस ख्याल पर जोर दिया। कुछ लोग कहते है कि मानव जाति का इतिहास स्वाधीनता के संघर्ष की

कथा है, कुछ और इसे नैतिक भद्र के सघर्ष की कथा बताते है। साम्यवाद के नेताओ ने हीगल के मौलिक विचार को तो स्वीकार किया परन्तु सघर्ष के रूप के सम्बन्ध में एक नया दृष्टि-कोण पेश किया। इनके विचारानुसार मनुष्य जाति के सामने प्रमुख प्रश्न आदर्शों का नही, लौकिक सम्पत्ति प्राप्त करने का रहा है। मानव-इतिहास स्वामियो और अस्वामियो के सघर्ष की कथा है और अब भी स्थिति यही है। इस विचार को 'इतिहास का प्राकृत प्रत्यय' कहते है। इसी को 'ऐतिहासिक प्रकृतिवाद' भी कहते है। वास्तव मे यह कोई दार्शनिक 'वाद' नही। यह एक प्रकार की मनो-वृत्ति है, जो लोक को परलोक से प्रथम स्थान देती है, और लौकिक जीवन मे मस्तिष्क और हृदय की अपेक्षा मेदे को अधिक महत्व देती है। हमारा वर्तमान काम तो मौलिक तत्व की बाबत सोचना है।

२. आत्मवाद

आत्मवाद सारी सत्ता को चेतन और चेतना मे देखता है। इसके अनुसार प्रकृति का कोई अस्तित्व नही; कम से कम, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही।

आत्मवाद के भी तीन रूप है:—

(१) मानसी आत्मवाद

(२) अमानसी आत्मवाद

(३) निरपेक्ष आत्मवाद

इन तीनों को अलग-अलग लेगे।

१. मानसी आत्मवाद

बर्कले मानसी आत्मवाद का प्रसिद्ध समर्थक है। उसके विचारानुसार सारी सत्ता आत्माओ और उनके अनुभवो की ही है। कुछ मिश्रित अनुभवो को हम आप बनाते है, परन्तु सभी सरल अनुभव परमात्मा की ओर से हमारे मन मे उत्पन्न होते है। बर्कले अनेक जीवात्माओ मे विश्वास करता था, परन्तु उसके सिद्धान्त के अनुसार इतना ही पर्याप्त प्रतीत होता है कि मैं अपने और परमात्मा के अस्तित्व को मानू। मानसी आत्मवाद पर हम विचार कर चुके है।

२. अमानसी आत्मवाद

आत्मवाद होने की स्थिति मे अमानसी आत्मवाद सारी सत्ता को अप्राकृत तो बताता है, परन्तु यह नही कहता कि सारा ज्ञान मेरे अन्दर है, न यह कि ज्ञान की उत्पत्ति में परमात्मा की निरन्तर क्रिया विद्यमान है।

अमानसी आत्मवाद के दो रूप हैं। हम इन्हे 'चेतनावाद' और 'चेतनवाद' कह सकते हैं। चेतनावाद के अनुसार ज्ञान-जगत चेतनामात्र है। यह चेतना सारी एक ही तीव्रता की नही, न ही एक समान अवकाश में बंटी हुई है। जैसे मरुभूमि में कही छोटा ढेर होता है, कही बडा होता है; कही रेत के असम्बद्ध दाने होते हैं, कही चट्टान होती है, वैसे ही चेतना भी अनेक रूपों मे दिखायी देती है। जड़ पदार्थ सबसे अधम श्रेणी की चेतना के ढेर हैं। वृक्ष उससे अधिक तीव्र चेतना के समूह हैं। पशु-पक्षियों और मनुष्यो की चेतना उच्च कोटि की है।

कुछ आत्मवादी कहते हैं कि चेतना, चेतन से अलग, कल्पना मात्र है। इनके मतानुसार, अमानसी आत्मवाद चेतनवाद है। हमारे ज्ञान का विषय अन्य ज्ञानी हैं। चेतनावाद परिमाण वा मात्रा के पर्दो मे चिन्तन करता है; चेतनवाद संख्या को प्रमुख बनाता है। जगत असंख्य चेतनो वा ज्ञाताओ का समुदाय है। जैसा हम देख चके हैं, लाइबनिज की ऐसी धारणा थी।

३. निरपेक्ष आत्मवाद

आत्मवाद का सबसे अधिक प्रभावशाली रूप निरपेक्ष आत्मवाद है। काट के पीछे आने वाले जर्मनी के दार्शनिक इसके बडे समर्थक हैं। काट ने कहा था कि हमारे ज्ञान की सामग्री हमें बाहर से प्राप्त होती है, उसे विशेष आकृति देना मन का काम है। फिखटे ने कहा—'हम जगत का निर्माण ही नही करते, हम इसकी रचना करते हैं।' आत्मा की प्रकृति ही ऐसी है कि ज्ञान के विषय को उत्पन्न करे। शैलिंग ने ज्ञाता और ज्ञेय दोनो को 'निरपेक्ष मन' के दो प्रकटनों के रूप मे देखा। 'जगत (नेचर) दृष्ट आत्मा है, आत्मा अदृष्ट जगत है।'

नवीन काल का सबसे बडा आत्मवादी हीगल है। हीगल के सिद्धान्त मे तीन बातें प्रमुख हैं :—

(१) विश्व मे मन की प्रथमता है।

(२) विश्व में जो कुछ होता है, नियमानुसार होता है। 'जो कुछ वास्तविक है, वह विवेक-युक्त है, जो कुछ विवेक-युक्त है, वह वास्तविक है।'

(३) विश्व के विकास मे हर कही 'विरोध' प्रकट होता है: परन्तु यह 'विरोध' सामंजस्य मे बदल सकता है। यह क्रम मनुष्य के जीवन मे और इतिहास में एक समान दिखायी देतां है। प्रत्येक 'धारणा' मे, इसकी विरोधी प्रति-धारणा छिपी होती है; और प्रकट हो जाती है। पीछे दोनो के मेल से समन्वय प्रकट होता है। यही विकास की कथा है।

हीगल के विचार में, सत्ता की प्रथम अवस्था 'अस्पष्ट चेतना' होती है; दूसरी मंजिल मे 'भूमंण्डल' व्यक्त होता है। यह जड प्रकृति से आरम्भ करता है, फिर सजीव प्रकृति (वनस्पति) का रूप धारण करता है; और अन्त मे मनुष्य के शरीर मे प्रकट होता है। तीसरी मंजिल मे सत्ता 'चेतन मन' का रूप ग्रहण करती है। मन के प्रकट होने पर इतिहास का आरम्भ होता है। मनुष्य के विकास मे निम्न मजिले आती है—

चेतना, आत्मबोध, बुद्धि, आत्मा, धर्म, निरपेक्ष ज्ञान, अन्तिम मंजिल पर पहुंच कर, 'निरपेक्ष मन' का उद्देश्य पूरा हो जाता है। यह उद्देश्य उसका अपना विकास करना ही है।

इंग्लैंड मे जिन विचारको ने, थोड़े भेद के साथ, हीगल के आत्मवाद का प्रसार किया, उनमे ब्रैडले का नाम प्रमुख है। उनके विचार के अनुसार अन्तिम सत्ता एक 'व्यक्ति' है, जिसके अंश भी चेतन व्यक्ति है। स्वय 'निरपेक्ष' तो हानि लाभ से परे है, इसका अपना कोई इतिहास नही, परन्तु इसकी सत्ता के अन्तर्गत असंख्य इतिहास विद्यमान है।

जीवात्मा भी ब्रह्म के प्रकटन है। प्रश्न होता है कि इन प्रकटनो की सत्ता स्थिर है, या अस्थिर है? ब्रैडले का ख्याल है कि ब्रह्माण्ड मे जो परिवर्तन हो रहा है, उसमे अप्रधान व्यक्ति (जीवात्मा) प्रकट भी होते है, और समाप्त भी हो जाते है। कुछ आत्मवादी इससे सहमत नही। प्रिंगल पैटिसन के विचार मे प्रत्येक जीवात्मा अपनी विलक्षणता रखता है, और कोई अन्य आत्मा उसका स्थान ले नही सकता। वह भी 'निरपेक्ष' की तरह नित्य है।

हमारी चेतना मे ज्ञान और क्रिया सम्मिलित है। यह दोनो एक ही वस्तु के दो पक्ष है, और एक दूसरे से अलग नही हो सकते। हीगल ने ज्ञान या बोध को सत्ता का तत्व बताया, उसके सहयोगी शापनहावर ने 'इच्छा-शक्ति' या सकल्प को यह प्रतिष्ठा दी। हीगल का मूलक बोध अस्पष्ट था, शापनहावर की इच्छा-शक्ति अंधी थी। यह भी अपने विकास मे तीन मंजिलो से गुजरी। पहली मजिल मे यह 'प्राकृत बल' के रूप मे व्यक्त हुई, दूसरी मजिल मे इसने संगठन करने वाले 'जीवन' का रूप ग्रहण किया, तीसरी मजिल मे यह 'मन' बनी। यह शक्ति जन्म से अन्धी थी, अब भी इसकी क्रिया अधिकाश विवेक से शून्य ही होती है। परिणाम यह है कि जीवन मे दु:ख ही दु:ख है। हमारा चलना क्या है? कुछ समय के लिए गिरने को टालना है। हमारा जीवन क्या है? मृत्यु की पकड मे कुछ देर करना है। शापनहावर अपने समय का प्रसिद्ध अभद्रवादी था।

४. आलोचना

आत्मवाद का उद्देश्य मनुष्य के गहरे विश्वासो को दो आक्रमणों से बचाना था एक आक्रमण प्रकृतिवाद की ओर से हुआ था; दूसरा सन्देहवाद की ओर से। कु प्रकृतिवादी कहते थे कि जैसे गुर्दे से पित्त रस कर बहता है, वैसे ही चिन्तन मस्तिष्क से बहता है। वे आत्मा और परमात्मा की सत्ता से इन्कार करते थे। आत्मवा ने उनके विचार-शून्य दावो का उत्तर उन्ही की रीति से दिया। प्रकृतिवाद ने कह था—'प्रकृति के अतिरिक्त कुछ है ही नही'; आत्मवाद ने कहा—'प्रकृति है ही नही। कांट ने नवीन आत्मवाद को आरम्भ किया। कुछ लोगों के ख्याल में उसका उद्देश धर्म को तर्क के आक्रमणो से सुरक्षित करना था। हीगल ने ब्रह्म-जिज्ञासा को ध और दर्शन दोनो का साझा लक्ष्य बताया।

सन्देहवाद की धारणा यह थी कि हमारे लिए वाह्य जगत का ज्ञान सम्भव ह नही। एक ही पदार्थ की बाबत, विविध इन्द्रियों की सूचना एक नही होती: ज वस्तु आख से पानी दिखायी देती है, स्पर्श उसे रेत बताता है। दो हाथो को गर्म औ सर्द जल मे रखे। फिर दोनों को एक ही पात्र के पानी मे डाले। जल एक हाथ क गर्म, और दूसरे को सर्द लगेगा। यह भेद वस्तुगत जल के सम्बन्ध मे होता है, व्यक्ति के अपने अनुभव की बाबत तो उसे सन्देह हो ही नही सकता। जब मै कहता हूं कि भयभीत हो रहा हू, तो कोई दूसरा मुझे यह विश्वास नही दिला सकता कि मै भय भीत नही हूं। वह यही कह सकता है कि मेरा भय निराधार है। सन्देहवाद क समाप्त करने का एक सुगम उपाय यह है कि वाह्य जगत को, जिसकी बाबत सन्दे होता है, सिरे से अस्वीकार कर दिया जाय। बर्कले ने इस रीति का प्रयो किया।

बर्कले ने बाह्य जगत के ज्ञान को ज्ञान-इन्द्रियो के प्रयोग पर आधारित किया, सरल परीक्षण से सहायता ली; और इसमें भी व्यक्ति के परीक्षण को पर्याप्त समझा अब इन साधनो को काफी नही समझा जाता। ज्ञान-इन्द्रियों की सहायता के लिए या उनके स्थान मे, यन्त्रों का प्रयोग होता है। अब हम स्पर्श से यह नही कहते कि ज्वर अधिक है, अपितु थर्मामेटर लगाकर कहते है कि ज्वर १०२·६ है। निरे परी क्षण का स्थान निरीक्षण ने ले लिया है। हम वही कुछ जानने पर संतोष नही करत जो कुदरत हमे अपने आप दिखाती है, अपितु स्थिति को अपनी इच्छानुसार बदल कर, उसमे निश्चित प्रश्न पूछते है। ज्ञान अब साझे की पूजी बन गया है। एक ही प्रश्न को हल करने के लिए, अनेक स्थानों पर, अनेक निरीक्षक काम करते हैं। सन्देह वाद का खण्डन अब इतना सुगम नही, जितना बर्कले ने समझा था। विज्ञान की

उन्नति ही सन्देहवाद का खण्डन है। विज्ञान १००% निश्चय की आशा नही करता, परन्तु यह तो समझता ही है कि हम इसके निकट पहुचते जाते है।

मानसी आत्मवाद ने जीवात्माओं को द्रव्य का पद दिया था। निरपेक्ष आत्मवाद ने इन्हें इस पद से वंचित कर दिया है। हमे कहा जाता है कि जो स्थिति जीवात्माओ के सम्बन्ध में चेतनावस्थाओ की है, वही स्थिति 'निरपेक्ष' के संबंध मे जीवात्माओ की है। हम क्रियाशील नही : क्रिया कर्त्ता मे होती है, अवस्थाओ मे नही होती। काट ने कहा था--'तुम्हे करना चाहिए, इसलिए तुम कर सकते हो।' हम इस वाक्य को कुछ बदल भी सकते है : 'तुम कर सकते हो, इसलिए तुम्हे करना चाहिए।' स्वाधीनता अपने साथ दायित्व लाती है। निरपेक्ष आत्मवाद हमे कर्मशीलता से वचित कर देता है। इसका फल यह है कि न हमारा दायित्व रहता है, न आत्मिक उन्नति के लिए कोई गुजाइश रहती है। जो लोग मानव का तत्व उसकी स्वाधीनता और नैतिक दायित्व मे समझते है, उनके लिए निरपेक्ष आत्मवाद मान्य नही हो सकता।

द्वैतवाद

१. द्वैतवाद के रूप

तर्क के उत्थान मे द्वैतवाद ने कई रूप धारण किये है। शायद सबसे पुराना रूप वह है जिसका वर्णन पारसियो की धर्म पुस्तक 'जेदावस्था' मे मिलता है। पारसी धर्म के सस्थापक जरथुष्ट्र का मत था कि प्रत्येक वस्तु मे नेकी और बुराई, भद्र और अभद्र दो विरोधी तत्व मिले हुए है, इस नियम से अहरमज्द (परमात्मा) भी बचा नही। पीछे इन दोनो तत्वो को अलग करके इन्हे स्वतन्त्र अस्तित्व दिया गया। नये विचार के अनुसार नेकी और बुराई दो पृथक और स्वतन्त्र तत्व है। स्थूल आकार मे इन्हे अहरमज्द और अहिरमान (परमात्मा और शैतान) कहा जाता है। इन दोनो मे निरन्तर सघर्ष जारी है। अन्त मे अहरमज्द की विजय होगी, और इस के साथ ही सृष्टि का भी अन्त हो जायगा, क्योकि सृष्टि इन दोनो तत्वो के सघर्ष का आविष्कार ही है।

द्वैतवाद का दूसरा रूप सत्ता और प्रकटनो का भेद है। अफलातू ने इस द्वैत पर बहुत बल दिया, यही उसके सिद्धान्त मे मौलिक प्रत्यय है। अफलातू ने सत्ता को प्रत्ययो की दुनिया मे देखा। जिस जगत मे हम रहते है, वह प्रकटनो की दुनिया है। जितने घोडे हमे दिखायी देते है, या दिखायी दिये है, वे सब 'विशेष' पदार्थ है, और घोडे के 'प्रत्यय' की नकले है। वह प्रत्यय ही अकेला 'सामान्य' है। यही हाल अन्य पदार्थो का है। दृश्य जगत भास या दीप्तिमात्र है। इस विचार के अनुसार प्रकटन भी सत्य है, यद्यपि इनकी सत्ता द्रव्य की अपेक्षा निचले दर्जे की है। कुछ विचारको के मत मे सत्ता और प्रकटन का भेद समस्त और उसके कटाव या प्रकरण का भेद है। प्रकटन भी पूरे अर्थो मे सत्ता है, यद्यपि यह अल्प सत्ता है।

नवीन काल मे द्वैत ने पुरुष और प्रकृति के भेद का रूप ग्रहण किया है। सत्ता के ये दोनो स्वतन्त्र तत्व है। जो कुछ भी दिखायी देता है, वह इन दोनो के गुण-कर्म का प्रकाश है। यह द्वैत ही वर्त्तमान अध्याय के विचार का विषय है।

२. डेकार्ट का द्वैतवाद

डेकार्ट को नवीन दर्शन का पिता कहा जाता है। जैसा हम देख चुके है, उसके विचार मे आत्मा का अस्तित्व तो सन्देह का विषय ही नही हो सकता। स्वय सन्देह ही आत्मा के अस्तित्व को असन्दिग्ध बना देता है। 'मै चिन्तन करता हू, इसलिए मै हू।' डेकार्ट ने इससे आगे बढने के लिए नियम बनाया कि 'जो प्रत्यय पूर्ण रूप मे स्पष्ट हो, वह सत् का सूचक है।' उसने देखा कि प्रकृति या प्रत्यय ऐसा प्रत्यय है। इसलिए उसने प्रकृति की सत्ता को भी स्वीकार किया। डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति मे जाति-भेद देखा, और यह भेद इतना बड़ा था कि वह इनमे किसी प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना को समझ नही सका। परन्तु यह सम्बन्ध हमारे दैनिक अनुभव की साक्षी पर निर्धारित है, और इसे स्वीकार करना ही पडता है।

डेकार्ट के समय मे भौतिक विज्ञान यन्त्र-विद्या तक ही सीमित था। डेकार्ट के लिए स्वाभाविक था कि वह प्राकृत जगत और मनुष्य के शरीर को यन्त्र के रूप मे और आत्मा को यन्त्री के रूप मे देखे। डेकार्ट के दृष्टि-कोण का एक फल यह हुआ कि विज्ञान ने यन्त्र को अपने अध्ययन का विषय बनाया, और दर्शन-शास्त्र ने यन्त्री की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। डेकार्ट के समय के बाद शरीर-शास्त्र और प्राण-शास्त्र प्रकट हुए। इन्होने स्थिति को कुछ बदल दिया है, और अब फिर विज्ञान और दर्शन निकट आ रहे है।

३. लाक और कांट

डेकार्ट ने चिन्तन को अपने विवेचन का आधार बनाया था। इसमे उसने तत्व-ज्ञान की परम्परा को अगीकार किया था। लाक ने अपने लिए एक नया पथ चुना। उसने ज्ञान को अपने विश्लेषण का विषय बनाया और कहा कि हमारा सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त अनुभव पर निर्भर है। परन्तु ज्ञान हमारा है, और हम प्राप्त अनुभव पर चिन्तन करते है, और इसमे जोड-तोड, सयोग-विभाग, करके अपने अनुभव को विस्तृत करते है। हम आत्मा और अनात्मा, पुरुष और प्रकृति, दोनो को मानने पर विवश है।

काट ने इस विचार को और आगे बढाया, और अपनी प्रमुख पुस्तक के पहले वाक्य मे ही कहा कि हमारा सारा ज्ञान अनुभव से आरम्भ होता है, परन्तु अनुभव पर ही निर्धारित नही। हमे ज्ञान की सामग्री बाहर मे मिलती है, परन्तु उसे आकृति देना हमारे मन का काम है। प्रकृति और मन के सहयोग से ही ज्ञान उत्पन्न होता

है। काट ने अपने द्वैतवाद मे सन्देहवाद को भी मिला दिया, परन्तु वह अंश हमारे वर्तमान विषय से असगत है।

लाक ने यह तो कहा कि हमारा ज्ञान हमे बाहर से प्राप्त होता है परन्तु साथ ही यह भी कहा कि हम इसके गुणो के अतिरिक्त प्रकृति के स्वरूप की बाबत कुछ नही जान सकते। प्रकृति और आत्मा दोनो के सम्बन्ध मे काट की धारणा ऐसी ही थी। यह दोनों 'स्वय-सत्' है, और हमारे अनुभव की पहुंच से बाहर है। यह होते हुए भी लाक और काट दोनों द्वैतवादी थे।

अपने उत्थान के पहिले दौरे मे, विज्ञान ने जगत और मनुष्य को एक यन्त्र के रूप मे देखा। वैज्ञानिको का मत प्रायः प्रकृतिवाद था। अब अवस्था बदल गयी है। इसका बडा कारण प्राणविद्या, मनोविज्ञान और मानवी विद्याओ का उत्थान है। भौतिक विज्ञान के प्रसिद्ध प्रवक्ता सर जेम्स जीन्स ने कहा है कि 'वैज्ञानिक अध्ययन का वास्तविक विषय विश्व (नेचर) की वास्तविक स्थितिया नही हो सकती, जो टिप्पणिया हम नेचर की बाबत करते है, वही अध्ययन के विषय है।' सत्ता के स्वरूप की बाबत, जीन्स का मत यह है—'अधिक से अधिक हम यही कह सकते है कि विविध युक्तियो का सम्मिलित परिणाम ऐसा प्रतीत होता है कि सत्ता का मानसी विवरण अमानसी विवरण से अधिक उपयोगी है।

अब वैज्ञानिक यह नही समझते कि आत्मवाद मर चुका है, और दबा भी दिया गया है। अब तो उनकी चिन्ता यह है कि प्रकृति का अस्तित्व सन्देह से बचा रहे। एडिग्टन कहता है :—

'मेरी चेतना की सामग्री ही अकेला विषय है, जो मेरे अध्ययन के लिए प्रस्तुत होता है। तुम अपनी चेतना के कुछ भाग का ज्ञान मुझे दे सकते हो, और इस तरह यह भाग मेरी चेतना मे भी प्रविष्ट हो जाता है। उन हेतुओ की नीव पर, जो आमतौर पर माने जाते है, मै तुम्हारी चेतना को भी अपनी चेतना के बराबर का पद देता हू, और इस गौण चेतना की सहायता मे, मै अपने आपको तुम्हारी स्थिति मे रख सकता हूं। इस तरह, मेरे अध्ययन का विषय एक नही, अनेक चेतनाए बन जाती है। इन चेतनाओ मे से प्रत्येक चेतना एक अलग 'दृष्टि-कोण' है। अब इन दृष्टि-कोणो को सम्मिलित करने की समस्या खडी हो जाती है; और इसके द्वारा ही भौतिक विज्ञान की दुनिया व्यक्त होती है। जो कुछ किसी एक चेतना मे है, उसका बड़ा भाग विशिष्ट होता है, और ऐसा प्रतीत होता है कि व्यक्ति की इच्छा से बदल सकता है।

सर जेम्स जीन्स : फिजिक्स एंड फिलोसोफी

परन्तु एक स्थायी भाग ऐसा भी है, जो सब चेतनाओं के लिए साझा है।. .यह साझा भाग किसी विशेष व्यक्ति की चेतना मे स्थापित नही हो सकता . यह तटस्थ भूमि मे होना चाहिए—अर्थात् एक बाहर की दुनिया मे।

यह सत्य है कि दूसरे चेतन प्राणियो के सम्पर्क के बिना भी मुझे पक्का विश्वास है कि प्राकृत जगत मौजूद है, परन्तु ऐसे सम्पर्क के बिना मेरे पास कोई हेतु इस विश्वास को सत्य मानने के लिए मौजूद नही।''[1]

इस तरह एडिंग्टन प्रकृति की दुनिया को एक आत्मा पर ही नही, अनेक आत्माओ के सहयोग पर निर्धारित करता है। पुराने प्रकृतिवादी इसे सुने, तो कब्रो मे घबरा कर लोटने लगे।

५. सांख्य का द्वैतवाद

भारत के दर्शनो मे, साख्य ने द्वैतवाद का बलपूर्वक समर्थन किया है। सत्ता के दो अन्तिम तत्व 'पुरुष' और 'प्रकृति' है। मूल प्रकृति को 'अव्यक्त' का नाम दिया गया है। अव्यक्त रूप-विहीन है। पुरुष की दृष्टि पडने पर इसमे परिवर्तन होता है, और यह परिवर्तन होता ही रहता है। इस परिवर्तन का कारण प्रकृति मे भी विद्यमान है। यह एकरस नही, अपितु तीन गुणो का समन्वय है। इन गुणो को सत्व, रजस् और तमस् का नाम दिया गया है। कुछ लोग इन तीनो को विशेषण या धर्म नही, अपितु प्रकृति के भाग समझते है। हर हालत मे, जब तक इन गुणो मे सामजस्य बना रहता है, प्रकृति अव्यक्त दशा मे रहती है, जब यह सामजस्य टूटता है, तो विकार का आरम्भ होता है। इन तीन गुणो का प्रभुत्व बढता-घटता रहता है, परन्तु यह रहते सदा साथ ही है। व्यक्त प्रकृति भोग्य या विषय है, यह अचेतन है और क्रियाशील है।

पुरुष एक नही, अनेक है। पुरुष-बहुत्व साख्य सिद्धान्त मे एक प्रमुख विषय है।

वर्तमान मे साख्य-सिद्धान्त पर जो पुस्तके मिलती है, उनमे ईश्वर कृष्ण की 'साख्य कारिका' वा 'साख्य सप्तति' बहुत प्रसिद्ध है। कारिका ११ मे व्यक्त के निम्न गुण बताये है :—

(१) इसके तीन गुण है।

(२) यह तीन गुण अलग नही हो सकते, सदा इकट्ठे रहते है।

(३) व्यक्त विषय या भोग्य है।

[1] **ए० एस० एडिंग्टन : नेचर आव दि फिजिकल वर्ल्ड**

चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करते है। अद्वैतवाद कहता है कि जहा तक चेतना का सम्बन्ध है, वह जागरण और स्वप्न मे एक जैसी है। दोनो मे प्रतीत होता है कि हम अन्य मनुष्यों के साथ व्यवहार करते हैं, और इस व्यवहार मे अमानसी पदार्थो का भी दखल होता है। स्वप्न निरा मन का खेल है। जागरण में अमानसी सत्ता को भी फर्ज किया जाता है। दर्शन और विज्ञान दोनो इसमे सहमत है कि जहा सरल समाधान से काम चल सके वहा असरल या पेचीले समाधान को अस्वीकारना चाहिए। अद्वैतवाद कहता है कि स्वप्न को समस्त मानसिक जीवन का नमूना मान ले तो प्रकृति का मानना आवश्यक नही रहता।

भारत मे अद्वैतवाद ने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए स्वप्न का सहारा लिया है। शंकराचार्य के दादा-गुरु गौडपाद ने अपनी कारिकाओ मे इसी बात पर जोर दिया है कि, चेतना की स्थिति मे, जागरण और स्वप्न मे कोई भेद नही, और हम केवल चेतना के अस्तित्व को मानने मे ही विवश है।

क्या द्वैतवाद अपने आपको इस आक्रमण से बचा सकता है?

अद्वैतवाद दो रूप धारण करता है—एकवाद और अनेकवाद। एकवाद का एक दिलचस्प रूप यह है कि मै ही समस्त सत्ता हू, शेष सब कुछ मेरे विचार है। इसे अंग्रेजी मे 'सालिप्सिस्म' कहते है। मेरा मानसिक जीवन एक समान है। इसमे कुछ भेद नही पडता कि इसे जागरण कहते है या स्वप्न। हम जिसे जागरण कहते हैं, उसमे भी चित्त भ्रम या मूर्च्छा की हालत मे हम स्वप्न की सी रचना कर लेते है। ऐसे एकवाद का कोई तार्किक खण्डन नही हो सकता। यह सम्भावना से बाहर नही कि मै इस समय स्वप्न मे ही लिख रहा हू, और स्वप्न मे ही आशा कर रहा हूं कि कोई इस लेख को पढेगा। यदि हम आत्मिक अनेकवाद मे विश्वास करे, तो स्थिति बदल जाती है। एक आत्मा और दूसरे आत्मा का सम्पर्क शरीर के द्वारा होता है, और शरीर प्रकृति का अंश है। इसके अतिरिक्त, जैसा एडिंग्टन और साख्यकारिका ने कहा है, जब कई मन सम्पर्क मे आते है, तो उनकी विशेष चेतनाओ के साथ, एक साझी चेतना भी व्यक्त हो जाती है, और इस साझी चेतना का आश्रय वस्तुगत जगत होता है।

गौडपाद कहता है कि जहा तक चेतना का सम्बन्ध है, जागरण और स्वप्न समान हैं; उनमे कोई भेद नही। इस दावे के मान्य वा अमान्य होने पर बहुत कुछ निर्भर है। हमारे ज्ञान मे तीन अश पाये जाते है—(१) इन्द्रियो से उपलब्ध ज्ञान, (२) कल्पना और (३) मनन वा बुद्धि का प्रयोग। जहा तक पहले अश का सम्बन्ध है, दोनों मे समानता है। कल्पना भी जागरण और स्वप्न दोनो मे पायी जाती है; स्वप्न

में तो इसका प्रभुत्व होता है। बुद्धियुक्त मनन के सम्बन्ध मे हम क्या देखते है? मे यह लेख लिख रहा हू। ५-६ मास मे इसके समाप्त होने की आशा है। जो कुछ मुझे तीन मास के बाद लिखना है, उसका चित्र भी इस समय मेरे मन मे मौजूद है। इसी प्रकार का आयोजन हम सब के जीवन के जागृत भाग मे पाया जाता है। यह बुद्धि-युक्त मनन का फल है। स्वप्न मे हम क्या देखते है? मुझे स्वप्न मे यह पता नही होता कि ५ मिनट के बाद मेरी कल्पना कहा पहुची होगी, विशेष आयोजन के अनुसार कार्य का चलाना तो अलग रहा। बुद्धियुक्त मनन जागरण का प्रमुख चिह्न है, स्वप्न मे यह न होने के बराबर है। जागरण और स्वप्न की समानता पर कहते हुए, गौडपाद ने इन्द्रिय-जनित अनुभव और कल्पना के मुकाबिले मे बुद्धि को भुला ही दिया है। तर्क मे तो बुद्धि को ही प्रमुख स्थान मिलता है। इस तरह, हम गौडपाद की इस धारणा को कि, चेतना होने की स्थिति मे, जागरण और स्वप्न एक समान है, स्वीकार नही कर सकते। द्वैतवाद पर जो आक्रमण स्वप्न के बिन्दु से किया जाता है, वह इसे तोड नही सकता।

डेकार्ट ने चेतना और विस्तार को पुरुष और प्रकृति के सारभूत गुण बता कर यत्न किया कि दोनो द्रव्यो के आपसी सम्बन्ध को समझ सके। उसने आत्मा और शरीर मे सम्पर्क का स्थान ढूडना चाहा, और मस्तिष्क के एक भाग, पिनियल ग्लैड, को ऐसा स्थान बताया। इस समाधान से किसी को सन्तोष नही हुआ। वास्तव मे डेकार्ट के सामने प्रश्न आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध का था। उसने इसे सकुचित बना दिया, और प्राकृत जगत की जगह मनुष्य के शरीर को अपने सम्मुख रखा। ऐसा करना आवश्यक न था। यदि वह प्रश्न को सामान्य रूप मे ही देखता, तो सम्भवतः उसकी कठिनाई कम हो जाती।

विकास मे प्रकृति के एक टुकडे ने विशेष प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त कर लिया है। यह टुकडा मनुष्य का शरीर है। मै इसे प्रकृति के शेष भाग से अलग करता हू। मै यह कैसे करता हू?

(१) प्रथम यह कि ज्ञान और कर्म के रूप मे, बाह्य जगत से मेरा सम्पर्क शरीर के द्वारा होता है। ज्ञान इन्द्रिया मुझे बोध देती है, कर्म के इन्द्रिया मुझे जगत मे परिवर्तन करने के योग्य बनाती है। अन्य आत्माओ के अस्तित्व का ज्ञान भी शरीर की सहायता से ही होता है। वे वाणी के प्रयोग से शब्द पैदा करते है; मै कानों के प्रयोग से शब्द को सुनता हूं।

(२) बाह्य जगत का ज्ञान देने के लिए ज्ञान-इन्द्रिया काम करती है; परन्तु शरीर की अपनी अवस्था को जानने के लिए मै शरीर को ही ज्ञान-इन्द्रिय बनाता

हू। मुझे भूख-प्यास लगती है, पेट में दर्द होता है। इन अवस्थाओ का ज्ञान आख, कान, रसना आदि से नही होता; स्वयं शरीर ही यह सूचना देता है। मेरे सुख-दुःख से तो प्रकृति के इस भोग का विशेष सम्बन्ध है। जो दुःख मुझे अपना मेदा खाली होने से होता है, वह किसी और के मेदे के खाली होने से नही होता।

(३) मै जहा कही भी जाता हूं, मेरा शरीर मेरे साथ होता है। रात को सोते समय मै अपनी ऐनक उतार कर मेज पर रख देता हूं; नाक या कान को उतार कर नही रख सकता। नाक और कान मेरे शरीर के अंग हैं; ऐनक अंग नही।

(४) ज्ञान-इन्द्रियो मे हम त्वचा पर सब से अधिक भरोसा करते है। एक कहावत के अनुसार 'देखना ही विश्वास करना है, त्वचा असली चीज है।' त्वचा दो रूपों मे प्रकट होती है––सक्रिय और निष्क्रिय। जब मै मेज पर हाथ फेरता हू, तो मै एक प्रकार का स्पर्श अनुभव करता हू; जब कोई कीडा मेरे माथे पर बैठ कर चलने लगता है, तो मेरा स्पर्श दूसरे प्रकार का होता है। वाह्य जगत में जितने पदार्थ है, उनके सम्बन्ध मे मेरा स्पर्श एक या दूसरे प्रकार का होता है। जब मै अपने माथे पर हाथ रखता हूं, तो मुझे सक्रिय और निष्क्रिय दोनो प्रकार के स्पर्श का बोध होता है। यह दुहरा स्पर्श केवल अपने शरीर के सम्बन्ध में ही हो सकता है। मनो-विज्ञान की दृष्टि मे, यह बोध शरीर की सीमाओ को निश्चित करने का अन्तिम साधन है।

शरीर के साथ मेरा गहरा सम्बन्ध तो बात-बात मे प्रकट होता है। 'मै घूमने जा रहा हू', 'मै थका हुआ हू'; 'मेरा नया जूता कुछ तग है'। इन वाक्यो मे मै मन और शरीर मे भेद ही नही करता। तथ्य यह है कि हम वाह्य जगत की सत्ता को स्वीकार करे या न करे, हम अपने शरीर की सत्ता को स्वीकार करते ही हे। डेकार्ट ने भूल से आत्मा और प्रकृति के सम्पर्क-स्थान को शरीर के किसी गुप्त भाग में देखना चाहा। वास्तव मे सारा शरीर ही यह सम्पर्क-स्थान है। शरीर मे आत्मा और अनात्मा का मेल होता है।

मनुष्य का शरीर द्वैतवाद का प्रबल समर्थक है।

८. नवीन वास्तववाद

शरीर के महत्व को बर्टरैण्ड रस्सल ने एक नये रूप मे पेश किया है। रस्सल के विचार मे द्वैतवाद की कठिनाइया दूर नही, तो कम हो जाती है, यदि हम प्रकृति के स्वरूप की बाबत प्रचलित विचारों मे कुछ परिवर्तन कर ले।

डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति दो भिन्न द्रव्यों को स्वीकार किया था, यद्यपि वह

यह स्पष्ट नही देख सका था कि इन दोनो का सम्पर्क कैसे होता है। लाक ने प्रकृति को उसके अप्रधान गुणों से वंचित कर दिया; बर्कले ने प्रधान गुणों को भी मानसी बताया। इन तीनों विचारकों के मत में एक समानता थी; वे समझते थे कि गुण किसी द्रव्य में ही स्थित होते हैं, और द्रव्य स्थायी होता है। डेकार्ट ने सभी गुणों को प्रकृति में देखा; लाक ने केवल प्रधान गुणों को प्रकृति मे देखा; बर्कले ने प्रधान और अप्रधान, सभी गुणों को मन में देखा। रस्सल बर्कले से इस बात में तो सहमत है कि रूप, रंग, शब्द आदि किसी स्थायी प्राकृत द्रव्य मे नही; परन्तु बर्कले की तरह वह यह नही मानता कि यह बाहर नही, हमारे अन्दर है। वह कहता है कि हम द्रव्य और गुण के पदों मे चिन्तन करना छोड़ दें, और केवल इन्द्रिय-लब्धों का वर्णन करें। इन लब्धों के अस्तित्व की बाबत तो कोई विवाद नही; विवाद का विषय यह है कि वे हमारे अन्दर है, या बाहर है। रस्सल कहता है कि हम इन इन्द्रिय-लब्धो को प्रकृति के अंश मान ले। जो लब्ध मेरे ज्ञान का विषय है, वह सम्भवतः उसी समय तक वास्तविक होंगे, जब तक मेरे ज्ञान-इन्द्रिय उन्हे उपलब्ध करते है। मेरे इन्द्रिय-उपलब्ध वही नही, जो मेरे पड़ोसी के उपलब्ध है। वास्तव मे हममें हरएक की अपनी प्राकृत दुनिया है, और वह इन उपलब्धो से बनी है। प्रकृति इन अस्थायी उपलब्धो का ही संग्रह है। जो बात निस्संदेह है, वह यह है कि ये उपलब्ध मन के बाहर हैं। बर्कले ने इन्हे मन के अन्दर स्थित करने में भूल की थी। बर्कले की दलील यह थी—'मुझे अग्नि अपने बाहर प्रतीत होती है। जब मैं इसके निकट जाता हू, तो मुझे गर्मी लगती है और पीड़ा होती है। गर्मी और पीडा दोनों एक साथ अनुभूत होती है। इसमें तो किसी को सन्देह नही कि पीड़ा अग्नि मे नही, मन मे है। इसलिए गर्मी भी, जिसे हम अग्नि मे अनुभव करते है, हमारे बाहर, अग्नि में नही, अपितु हमारे अन्दर मन में है।

रस्सल कहता है, गर्मी हमे अग्नि में अनुभूत नही होती, अपने शरीर में अनुभूत होती है। हम पीछे अनुमान करते है कि यह अग्नि मे है। अग्नि और मन के दरमियान और उनसे अलग हमारा शरीर भी है। गर्मी अग्नि मे न हो, तो इससे यह नतीजा नही निकलता कि यह मन में है।

रस्सल अपने विचार को सिद्धान्त या मत के रूप मे नही, अपितु प्रतिज्ञा, कल्पना के रूप मे प्रस्तुत करता है। इतना तो स्पष्ट ही है कि उसका झुकाव द्वैतवाद के पक्ष में है। द्वैतवाद व्यावहारिक-ज्ञान का मत है। रस्सल इसका समर्थन करना चाहता है।

तृतीय भाग

विराट-विवेचन

भूमण्डल की रूपरेखा

१. विविध दृष्टिकोण

मैक्समूलर ने कहा है कि जब कोई पुरुष, जो वर्षो मे दुनिया को देखता रहा है, अचानक ठहर जाता है, दुनिया पर टकटकी लगाता है, और पुकार उठता है—'तुम क्या हो ?' तो उसी समय उसके मन मे तत्व-ज्ञान जन्म ले लेता है। इसी ख्याल को प्रकट करने के लिए कहा गया है कि आश्चर्य विवेक का जनक है। हम भी भूमण्डल पर टकटकी लगाये और इससे पूछे—'तुम क्या हो ?'

भूमण्डल इस प्रश्न का उत्तर सब पूछने वालो को एक सा नही देता। प्रश्न पूछने वालो को हम तीन श्रेणियो मे बाट सकते हैं—

(१) वह लोग जिनके लिए व्यावहारिक ज्ञान पर्याप्त होता है। वे बाहरी तल को देखते हैं, बहुत गहरे नही जाते।

(२) वह लोग जो वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहते है। वे गहरे तो जाते हैं, परन्तु, एक विशेष दृष्टिकोण से देखने के कारण, उनका आलोकन एक अंशी होता है।

(३) वह लोग जो गहरा देखते है, और साथ ही अपने दर्शन को सर्वांशी भी बनाना चाहते हैं। ये दार्शनिक हैं।

जो उत्तर इन तीनो श्रेणियो के लोगो को मिलते है, उन्हे देखें।

२. व्यावहारिक ज्ञान का पक्ष

(१) मै अपने आपको अनेक वस्तुओ से घिरा देखता हू।

कुर्सी पर बैठा लिख रहा हूं। सामने एक कुत्ता सोया है, परे घास, फूल, और वृक्ष है। मकान के बाहर से आवाज आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ बालक सड़क पर खेल रहे हैं।

(२) जिन वस्तुओ से मै अपने आपको घिरा पाता हूं, वे असख्य हैं। परन्तु उनमे समानता भी दिखाई देती है। इस समानता की नीव पर, मे उन्हे वर्गो या श्रेणियों मे देखता हूं।'

जो कुछ ज्ञात होता है, उसमे तीन भाग प्रमुख दिखायी देते है --

जड या अजीव पदार्थ,

सजीव पदार्थ,

चेतन पदार्थ।

जड पदार्थ केवल प्रकृति के अंश है; सजीव पदार्थो मे प्रकृति और जीवन संयुक्त है; चेतन पदार्थो मे प्रकृति, जीवन और चेतना—तीनो एक साथ मिलते है। प्रकृति से अलग हम न जीवन को और न चेतना को ही कही देखते है।

(३) जितनी वस्तुएं हमारे ज्ञान का विषय है, वे एक दूसरे से सम्बद्ध है। वे सब एक ही अवकाश मे विद्यमान है : कोई यहा, कोई वहा। इस 'संयोग' के अतिरिक्त यह भी प्रतीत होता है कि वे एक दूसरे की ओर उदासीन नही; वे एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करती है। इसका सब से प्रसिद्ध दृष्टान्त आकर्षण का नियम है। ब्रह्माण्ड मे प्रत्येक परमाणु अन्य सभी परमाणुओ को अपनी ओर खीचता है, और उनसे खीचा जाता है। हमारे ज्ञान, उद्वेग और क्रिया मे, मन और प्रकृति सम्पर्क मे आते है।

(४) परिवर्तन भूमण्डल का व्यापक सा चिह्न प्रतीत होता है।

प्राकृत पदार्थो मे टूटना-फूटना और बनना चलता ही रहता है। सूर्य की गर्मी से समुद्र का जल भाप बनता है। भाप ऊंचाई पर पहुंच कर ठण्ढी होती है, और पानी बन कर फिर समुद्र मे जा पहुचती है। पहाड़ टूटते है, नदियो मे बह कर उनके अंश समुद्र मे पहुंचते है, और वहा नये पहाड बनते है। सजीव पदार्थो मे परिवर्तन वृद्धि का रूप धारण करता है। ऐसे पदार्थों मे वृद्धि के साथ यह भी देखते है कि विविध अग एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए काम करते है।

(५) जीवित पदार्थो की बाबत हम एक विचित्र बात देखते है : जीवन हर एक हालत मे अपने आपको सुरक्षित रखना चाहता है। वृक्ष जड़ प्रकृति को सजीव प्रकृति मे बदल सकते है। चेतन प्राणी, जिनमे जीवन ऊंचे स्तर पर प्रकट होता है, ऐसा नही कर सकते। उनकी हालत मे जीवन जीवन पर पलता है। वे या तो वनस्पति पर गुजारा करते है, या एक दूसरे को अपना आहार बनाते है। वे चल देने से पहले अपने जैसे अन्य प्राणियों को पैदा कर देते है। सन्तान-उत्पत्ति भी वास्तव में व्यक्ति की वृद्धि ही है। मनुष्यों मे व्यक्ति का जन्म माता-पिता के संयोग से होता है। इससे व्यक्ति को पिछली नसल के दो व्यक्तियों की प्रकृति से चुनने का अवसर मिलता है। यह उन्नति का बड़ा साधन है।

३. विज्ञान की दुनिया

विज्ञान की प्रमुख शाखा भौतिक विज्ञान है। कहा जाता है कि अन्य शाखाएं वास्तव मे भौतिक विज्ञान के अनुरूपक ही हैं। भौतिक विज्ञान की दृष्टि मे, जो कुछ इसके अध्ययन का विषय हो सकता है, वही भूमण्डल है। यदि कोई सत्ता ऐसी है, जो इस अध्ययन का विषय नही बन सकती, तो विज्ञान के लिए दो मार्ग खुले हैं—या तो उसके अस्तित्व से इन्कार कर दे, या यह कह दे कि उसे ऐसी सत्ता से कोई वास्ता नही। कुछ वैज्ञानिक एक मार्ग को अपनाते हैं; कुछ दूसरे मार्ग को। इस तरह विज्ञान की बाबत पहली बात ध्यान मे रखने की यह है कि विज्ञान, अपने काम के लिए, सत्ता मे से जो कुछ आवश्यक समझता है, अलग कर लेता है, और उसी पर अपना ध्यान लगाता है। चूकि सारे वैज्ञानिक एक प्रकार से ही पृथक्करण नही करते, परिणाम यह होता है कि भूमण्डल के रंग-रूप की बाबत पर्याप्त मतभेद हो जाता है। कुछ समय पहले समझा जाता था कि वैज्ञानिक के हाथ में एक अच्छा कैमेरा है। वह प्लेट को प्रकाश के सामने करता है, और सत्ता अपना ठीक चित्र उस पर अंकित कर देती है। ग्लैडस्टन कहा करता था कि कैमेरा कभी झूठ नही बोलता। इस विचार ने विज्ञान के लिए सर्वसाधारण के मन में अपार श्रद्धा पैदा कर दी। अब स्थिति बदल गयी है। वैज्ञानिक आप ही समझने लगे हैं कि वे फोटोग्राफर नही, चित्रकार हैं। पहले कहा जाता था कि विज्ञान जो कुछ कहता है, परीक्षण और निरीक्षण के आधार पर कहता है। अब जो कुछ देखा जाता है, उसका समाधान करने के लिए नैयायिक रचनाए रची जाती है; और उन्हे सत्ता स्वीकार किया जाता है। परिणाम यह है कि दैनिक व्यवहार की दुनिया और वैज्ञानिक कल्पना की दुनिया मे कोई समानता नही रहती।

दोनो दुनियाओं मे प्रमुख भेद ये हैं :—

(१) व्यावहारिक ज्ञान के लिए, भूमण्डल का प्रमुख पहलू इसका नानात्व है। अनेक पदार्थ विद्यमान हैं, जिन्हे उनके गुणो की नीव पर एक दूसरे से अलग किया जाता है। विज्ञान रूप, रस आदि अप्रधान गुणो के वस्तुगत अस्तित्व को स्वीकार नही करता; परिमाण, आकृति, और गति के अस्तित्व को मानता है। परमाणुवाद, जो अभी तक विज्ञान का प्रिय सिद्धान्त रहा है, मानता है कि परमाणुओं मे परिमाण और आकृति है, और वे गति करते हैं। पहले कहा जाता था कि परमाणु ठोस है, सरल है, और अखण्ड है। अब कहा जाता है कि परमाणु भी एक प्रकार का सौर्य-मण्डल है, जिसमे एक केन्द्र के गिर्द कुछ इलैक्ट्रान चक्कर लगाते रहते

है। यह वैज्ञानिकों के एक दल का मत है। दूसरा दल कहता है कि प्राकृत द्रव्य का कोई अस्तित्व नही; केवल शक्ति या 'एनर्जी' विद्यमान है। यह एनर्जी लहरो या तरगो के रूप मे प्रकट होती है। ये लोग प्रकृति और गति का कथन नही करते, केवल गति का कथन करते है।

रूप-रग, रस, राग, सौदर्य से भरे भूमण्डल का तत्व परमाणु और गति, या निरी लहरें है, जो आकाश मे फैल रही है।

(२) व्यावहारिक ज्ञान पदार्थों के भेद की बाबत बताता है। भेद तो गुणो के आधार पर होता है। जब गुण ही नही, तो भेद कहा रहेगा? जड, सजीव, और चेतन का भेद मौलिक नही। प्रकृति की गति में ही, एक खास अवस्था के पहुचने पर, जीवन व्यक्त हो जाता है, और पीछे, एक अन्य अवस्था के पहुचने पर, चेतना प्रकट हो जाती है। व्यावहारिक ज्ञान जीवन और चेतना को प्रमुख स्थान देता है; विज्ञान की दृष्टि मे, ये दोनो आकस्मिक घटनाए है, और किसी समय भी इनका अन्त हो सकता है। सीमित काल के लिए इनका विद्यमान होना कोई महत्व नही रखता।

(३) व्यावहारिक ज्ञान कहता है कि भूमण्डल के भाग एक दूसरे के कारण-कार्य सम्बन्ध से गठित है। विज्ञान इस सम्बन्ध को स्वीकार करता है, और विशेष स्थितियो में, ऐसे सम्बन्ध की खोज करना इसका प्रमुख काम है। कारण और कार्य के स्वरूप की बाबत बहुत मतभेद है।

साधारण पुरुष द्रव्य को कारण समझता है। दार्शनिको मे भी बहुतेरे इसी मत के है। हम कहते है—'सूर्य अपने तेज से बर्फ को पानी बना देता है; पानी को भाप बना देता है।' सूर्य कारण है, बर्फ या जल की अवस्था का परिवर्तन कार्य है।

जान स्टूअर्ट मिल ने, जो चिर काल तक विज्ञान का दार्शनिक समझा जाता रहा, कारण के प्रत्यय मे से द्रव्य को निकाल दिया, और कहा कि कारण और कार्य दोनों घटनाएं है। उसके विचार मे, जब एक घटना, हर हालत मे, किसी अन्य घटना के पीछे प्रकट होती है, तो पहली घटना को कारण कहते है, और दूसरी घटना को कार्य कहते है। अगर ये दोनो शर्तें (सम्बन्ध की नित्यता, और अन्य स्थितियो से उदासीनता) पूरी हो जायं, तो यह सम्बन्ध सदा बना रहता है।

इस विवरण मे कुछ कठिनाइया है। दिन के पीछे रात्रि होती है, रात्रि के पीछे दिन होता है; परन्तु हम उन्हे एक दूसरे का कारण वा कार्य नही कहते। मिल इसके उत्तर मे कहता है कि यदि पृथ्वी अपनी अक्षरेखा के गिर्द घूमना बन्द कर दे, तो दिन-रात का एक दूसरे के पीछे आना बन्द हो जायगा। यह क्रम पृथ्वी के घूमने पर

निर्भर है, इसलिए, यहा दूसरी शर्त पूरी नही होती। मिल की व्याख्या यह भी फर्ज करती है कि हम यह जानते है कि एक घटना कहा समाप्त होती है, और दूसरी कहा आरम्भ होती है, यह भी स्पष्ट नही।

अब विज्ञान मे शक्ति या एनर्जी का प्रत्यय प्रधान है। कहा जाता है कि शक्ति की मात्रा बढ़ती-घटती नही; इसका रूप बदलता रहता है। विज्ञान के लिए अब क्रम या विधि की प्रधानता है। किसी क्रम के उत्थान मे, पूर्व अवस्था को कारण कहते है, पीछे आनेवाली अवस्था को कार्य कहते है। वर्त्तमान अवस्था कारण भी है, और कार्य भी है। वास्तव मे कारण कार्य मे कोई भेद नही; हम अपनी सुगमता के लिए, ये रेखाए खीचते है, और निरन्तर प्रवाह के टुकडे करते है।

वैज्ञानिक कारण-कार्य सम्बन्ध मे किसी प्रकार की अनिवार्यता नही देखते। हम एक क्रम को देखते आये है, इसलिए आशा करते है कि भविष्य मे भी ऐसा होगा निश्चितता नही, अच्छी सम्भावना ही अनुभव की हुई व्यवस्था पर निर्धारित हो सकती है।

(४) विज्ञान ने इस धारणा से आरम्भ किया कि, इसके लिए, भूमण्डल उतना ही है जितना भौतिक-विज्ञान का विषय हो सकता है। भौतिक-विज्ञान की नीव इन्द्रियजन्य ज्ञान है। जीवन और चेतना के अस्तित्व से इन्कार तो हो नही सकता; इन्हे परमाणुओ की गति का परिणाम कह सकते है। १८ वी और १९ वी शतियो मे यही विज्ञान का प्रिय मत था। शरीर विद्या को भौतिक-विज्ञान का, और मनो-विज्ञान को शरीर-विद्या का अंग समझा गया। अब प्राण-विद्या ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करना आरम्भ किया है। प्राण-विद्या का अध्ययन करने वाले यह नही मानते कि भौतिक-विज्ञान और रसायन-विद्या के नियम जीवन का समाधान कर सकते है। उनमे कुछ तो कहते है कि समाधान मे नीचे से ऊपर नही, अपितु ऊपर से नीचे की ओर चलना चाहिए। अगर दोनों प्रकार के नियमो मे से चुनाव करना ही हो, तो प्राण-विद्या के नियमों को अपनाना चाहिए। प्रोफेसर हालडेन का ऐसा विचार है। वह कहता है कि सारा भूमण्डल एक 'सजीव संगठन' है, और इसका छोटे से छोटा भाग भी ऐसा संगठन है। प्रत्येक परमाणु समस्त के हित मे काम करता है।

(५) जीवन की उत्पत्ति और इसके विस्तार के सम्बन्ध मे वैज्ञानिको में मत-भेद है। कुछ कहते है कि जीवन जीवन से ही उत्पन्न होता है; और आरम्भ में पृथ्वी पर किसी टूटते तारे के साथ आ पहुचा, या आकाश में उडते प्राणी इसे यहा ले आये। बहुतेरे कहते है कि प्रकृति की गति में जीवन के उत्पादन की शक्ति है, और वे आशा लगाये बैठे है कि कभी इसे प्रयोगशाला मे पैदा कर ही लेंगे।

४. दर्शन-शास्त्र का पक्ष

व्यावहारिक ज्ञान का काम देखना है। विज्ञान का प्रमुख काम देखना और देखे हुए को व्यवस्थित करना है। परन्तु यह समाधान को भी अपने सामने रखता है। दर्शन-शास्त्र परीक्षण की ओर उदासीन नही होता, परन्तु इसका प्रमुख काम समाधान करना है। इस समाधान का विषय मनुष्य का अनुभव ही है।

कठ उपनिषद् मे कहा है कि हमारी ज्ञान-इन्द्रियां बाहर को खुलती हैं, इसलिए, हम प्रायः बाह्य जगत को ही देखते है। कुछ लोग अपने अन्दर की ओर भी देखते हैं। दर्शन मे 'अन्दर' और 'बाहर' के भेद को समझने का यत्न होता है। तत्व-ज्ञान भी भूमण्डल से पूछता है—'तुम क्या हो ?' भूमण्डल कोई स्पष्ट उत्तर नही देता। तत्व-ज्ञान पूछना बन्द नही करता। कुछ विचारकों के ख्याल में तो इसका प्रमुख काम प्रश्न पूछना ही है। अनेक प्रश्न पूछे जाते है; उनमें प्रमुख प्रश्न ये है :—

(१) हम 'अन्दर' और 'बाहर' मे भेद करते है। बाहर कुछ है भी या दृष्ट-जगत कल्पना मात्र ही है ? हम इसकी बाबत कैसे जानते है ? और क्या जानते है ?

(२) यह 'जानना' क्या है ? ज्ञाता और ज्ञेय मे क्या भेद है ?

(३) ज्ञाता और ज्ञेय के उस भाग में, जो ज्ञाता से निकटतम है, क्या सम्बन्ध है ?

दार्शनिक इन समस्याओ पर मनन करते है, और किसी निश्चित नतीजे पर नही पहुंचते। अन्य शब्दों मे, मनन का काम कभी समाप्त नही होता, सदा जारी रहता है।

पहले प्रश्न के सम्बन्ध मे, कुछ लोग कहते है कि हम वाह्य जगत को ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जानते है, और उसे उसके वास्तविक रूप मे जानते है। कुछ लोग इतनी दूर नही जाते। वे कहते है कि हम वाह्य पदार्थों को नही, अपितु उनके चित्रों या प्रतिबिम्बों को देखते है। असल हमारी पहुंच से बाहर है; हम नकल को ही जान सकते है।

इन दोनो विचारों के अनुसार, मन का काम कुछ देखना है; देखने की क्रिय मे, दृष्ट वस्तु में परिवर्तन करना नही। एक तीसरे विचार के अनुसार मन जानने की क्रिया मे ज्ञान के विषय को बदल देता है। इस परिवर्तन के बाद ही, ज्ञान-सामग्री ज्ञान बनती है। चौथा विचार तीसरे विचार से भी आगे जाता है, और कहता है कि हमारे ज्ञान का विषय बाहर है ही नही; मन अपनी अवस्थाओं की बाबत ही जान सकता है।

कुछ नवीन वस्तुवादी कहते हैं कि वाह्य जगत की सामग्री जिसे हम उसके असली रूप में देखते हैं, द्रव्य या द्रव्य के गुण नहीं; अपितु 'इन्द्रिय-उपलब्ध' है। सम्भवतः ये उपलब्ध प्रत्येक ज्ञाता के लिए भिन्न हैं। बर्ट्रेंड रस्सल ने इस प्रकार का विचार प्रस्तुत किया है।

दूसरी समस्या वाह्य जगत और आन्तरिक जगत के भेद की है।

बाहर की घटनाओं में हमें व्यवस्था या नियम की प्रधानता दिखाई देती है। 'प्रधानता' इसलिए कि व्यवस्था के साथ अव्यवस्था या अनियमितता का भाव भी दिखाई देता है। वैज्ञानिकों के विचारानुसार परमाणु भी अपनी गति में कभी-कभी मर्यादा का उल्लंघन कर देते हैं। जब हम अन्दर की ओर देखते हैं, तो हमें स्वाधीनता के दर्शन होते हैं। काट ने कहा था—'प्राकृत पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं; मनुष्य अपने आपको नियम के प्रत्यय के अधीन चलाने की योग्यता रखता है।' घटना और क्रिया में मौलिक भेद है : घटना होती है; क्रिया की जाती है। बाहर मे दोनो एक प्रकार की दीखती है; स्वयं कर्त्ता अपनी क्रिया को निरी घटना के रूप में देख नही सकता।

मन और शरीर के सम्बन्ध की बावत तत्व-ज्ञान क्या कहना है?

प्रकृतिवादी तो चेतना को प्रकृति के परिवर्तन का एक परिणाम ही समझते है। प्रत्येक मानसिक अवस्था किसी शारीरिक अवस्था का परिणाम है। इस मत के अनुसार मन और शरीर मे कारण-कार्य सम्बन्ध तो है, परन्तु वह एक तरफ से ही है। केवल प्रकृति ही क्रियाशील है।

कुछ लोग मन और शरीर दोनो को क्रियाशील तो समझते है, परन्तु कहते हैं कि इन दोनो के क्रिया-क्षेत्र अलग है। हा, दैवयोग से इनमे समानान्तरता विद्यमान है। प्रकृति की अवस्थाओ मे कारण-कार्य का सम्बन्ध है : क से ख उत्पन्न होता है; ख से ग, और ऐसा ही क्रम चलता है। क, ख, ग. . .आदि के व्यक्त होने के साथ ही, दूसरी ओर मानसिक घटनाए क' ख' ग'. .'आदि' भी प्रकट होती जाती है। यह समानान्तरता इतनी प्रभावशाली होती है कि हमे कारण-कार्य सम्बन्ध की भ्रान्ति होने लगती है।

तीसरा विचार यह है कि शरीर मन पर प्रभाव डालता है, और मन शरीर पर प्रभाव डालता है। इन दोनो मे दोनो तरफो से कारण-कार्य का सम्बन्ध है। मेरे पांव पर चोट लगती है। मेरा ध्यान तुरन्त उधर हो जाता है; मुझे पीड़ा होती है, और मै, नयी स्थिति को बदलने के लिए, जो कुछ कर सकता हूं, करता हूँ। ज्ञान, भाव और क्रिया-मन के तीनों चिह्न व्यक्त हो जाते है। दूसरी ओर मै लिखना चाहता

हू, और मेरी अगुलिया कलम को पकडती है, आंखे कागज पर टिकती है, और मेरे मस्तिष्क की क्रिया विशेष दिशा मे होने लगती है। शरीर मे किसी प्रकार का विष प्रविष्ट हो जाय, तो मानसिक विकार पैदा हो जाता है; दूसरी ओर निरन्तर चिन्ता से रक्त विषैला हो जाता है। कहावत है कि स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन होता है। यह भी कह सकते है कि स्वस्थ मन अपने शरीर को स्वस्थ बना लेता है।

मन और प्रकृति मे जो सम्बन्ध होता है, वह शरीर के द्वारा ही होता है। मै कलम को उठाने के लिए, पहिले अपनी बाहु को हिलाता हू। जब सुई चुभती है, तो वह तन्तुजाल की बोध-तन्तुओ मे कंपकपी पैदा कर देती है, और इससे मस्तिष्क के एक भाग मे भी उत्तेजना उत्पन्न हो जाती है, इसके पीछे मुझे सुई चुभने का बोध होता है।

क्रिया द्रव्य का लक्षण है। द्वैतवाद के मानने वाले मन और शरीर (प्रकृति) दानो को ही कारण का पद देते है। बहुतेरे दार्शनिक कारण-कार्य सम्बन्ध को दो तरफा मानते है।

भूमण्डल-प्रवाह और उसका समाधान

१. भूमण्डल या दृष्ट का तत्व

पिछले अध्याय मे, हम भूमण्डल की रूप-रेखा का वर्णन करते रहे है। अंग्रेजी मे इसके लिए 'नेचर' शब्द का प्रयोग होता है। 'नेचर' के प्रत्यय मे दो विचार प्रधान है :—

(१) हम हर ओर परिवर्तन देखते है। पदार्थ बनते और टूटते है, जो दृष्ट है, वह अदृष्ट हो जाता है, जो अदृष्ट था, वह दृष्ट हो जाता है। इस सारे परिवर्तन की पृष्ठभूमि स्थिर है। इस स्थिरता के मुकाबले मे ही हमे अस्थिरता का बोध होता है। यह स्थायी सत्ता 'नेचर' कहलाती है।

(२) भूमण्डल मे जो घटनाए होती है, वे असगत या क्रमरहित नही होती। इनमे व्यवस्था दिखायी देती है। यदि जगत मे व्यवस्था ही व्यवस्था हो, तो हमें इसके अस्तित्व का ज्ञान ही नही हो सकता। व्यवस्था के साथ अव्यवस्था भी विद्यमान है। जिस तरह अस्थिरता हमारा ध्यान स्थिरता की ओर फेरती है, उसी तरह अव्यवस्था की ओर सकेत करती है। व्यवस्था 'नेचर' के प्रत्यय मे दूसरा अंश है।

भूमण्डल की बाबत विचार करते हुए, हमे अनिवार्य रूप मे पूछना होता है कि—

(१) यह कैसे विद्यमान हो गया ?

(२) इसमे व्यवस्था का आगमन कैसे हुआ ?

वर्तमान अध्याय में, इन दोनो प्रश्नो पर विचार करेगे।

१. भूमण्डल का आरम्भ

हम जो कुछ निर्जीव या सजीव देखते है, वह अनित्य दिखाई देता है। हम आप भी जीवन को किसी समय आरम्भ करते है, कुछ देर यहा टिकते है; और फिर चल देते है, हम पूछते है कि जो कुछ अल्प अंशों की बाबत दिखाई देता है, क्या वही समस्त भूमण्डल की बाबत भी ठीक है ? क्या कोई समय ऐसा था, जब इसका भी आरम्भ हुआ ?

कुछ लोग प्रश्न का उत्तर 'हा' मे देते है; कुछ 'नही' मे देते है; और कुछ 'हां' और 'नही' को मिलाने का यत्न करते है। पहिली श्रेणी के विचारक कहते है कि एक विशेष समय पर सृष्टि की रचना हुई। यह रचना स्रष्टा ने की। इस विचार के साथ कुछ प्रसिद्ध धर्मो ने हमे परिचित कर दिया है। क्यों परमात्मा ने एक विशेष समनि रचना पराकयश्चय किया? इसकी बाबत कुछ नही कहा जा सकता। आम ख्याल यही है कि परमात्मा ने शून्य से विश्व को उत्पन्न किया, परन्तु इसके अतिरिक्त मध्यकाल मे दो और विचार भी थे। एक विचार के अनुसार, परमात्मा ने अपने एक अश को विश्व का रूप दे दिया; दूसरे के अनुसार, परमात्मा ने विश्व को अपने अन्दर से निकाला, जैसे मकडी जाले को अन्दर से निकालती है। इस तरह रचना को 'उत्पादन', 'विभाजन' और 'उद्घाटन'—तीन रूपो मे देखा गया है। पहले विचार के अनुसार, परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण है, दूसरे और तीसरे विचारो के अनुसार, वह सृष्टि का निमित्त कारण ही नही, उपादान कारण भी है। उद्घाटन का ख्याल भारत मे प्रचलित है। पश्चिम मे प्लाटीनस ने इसका प्रसार किया। दोनो के अनुसार, उद्घाटन एक गिरावट है। पूर्ण परमात्मा को इसकी इच्छा क्यो हुई? नवीन वेदान्त मे 'माया' इसके लिए उत्तरदायी है। प्लाटीनस के विचार मे, सृजन परमात्मा का स्वभाव ही है; किसी अन्य कारण को ढूढना आवश्यक नही।

प्रश्न का दूसरा उत्तर यह है कि भूमण्डल का आरम्भ कभी हुआ ही नही : यह अनादि है, और अनन्त भी है। डिमाक्राइटस के परमाणुवाद मे हम इस मत का एक दृष्टान्त देख चुके है।

इस विचार को हम स्वभाववाद या 'नैचुरिलिस्म' कह सकते है। भूमण्डल अपने समाधान के लिए, आप ही पर्याप्त है; किसी अलौकिक, दैवी शक्ति की सहायता की जरूरत नही।

तीसरा विचार ऊपर के दोनो विचारो का मेल करने का यत्न है। भवन बनाने के लिए सामग्री की आवश्यकता है। ईट, चूना, लोहा, लकडी आदि के बिना, वायु मे किले बन सकते है, परन्तु भूमि पर छोटा झोपडा भी नही बन सकता। दूसरी ओर भवन बनाने के लिए सामग्री ही पर्याप्त नही; सामग्री को विशेष आकार देने के लिए भवन-निर्माण करने वाले की भी आवश्यकता है। इस विचार के अनुसार, भूमण्डल की सामग्री, प्रकृति, तो अनादि है; परन्तु इसे आकार देने के लिए, निमित्त कारण की आवश्यकता है, दार्शनिको ने, पहले दो विचारो की अपेक्षा, इस विचार को अधिक सन्तोषजनक समझा है। अफलातू के विचारानुसार, सृष्टि मे व्यवहार और अव्यवस्था

दोनों विद्यमान है। आरम्भ मे अव्यवस्था ही थी। परमात्मा ने व्यवस्था को स्थापित किया, परन्तु परमात्मा भी प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल नही कर सकता। वह इन नियमो को बरत कर ही अपना उद्देश्य सिद्ध कर सकता है। अपूर्णता का कारण प्रकृति का तमोगुण है, जो सारे यत्न के मार्ग मे बाधा बनता है।

अरस्तू ने सामग्री और आकृति के भेद पर विशेष बल दिया। उसने परमात्मा को 'मूल कारण' का नाम दिया है। उसके विचार मे, उत्थान के साथ सामग्री की अपेक्षा आकृति का महत्व बढता जाता है। जीवित पदार्थों का सारा यत्न सामग्री को आकृति देने, और फिर उस आकृति को स्थिर रखने मे व्यय होता है। नीम के वृक्ष को लें। अन्य वृक्षो की तरह, इसमे भी आक्सिजन, हाइड्रोजन, और कार्बन ही अधिक मात्रा मे है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन-शक्ति इन और कुछ अन्य अंशों को मिलाकर नीम की आकृति तैयार करती है, और जहा तक बन पड़ता है, उसे स्थिर रखती है। यह भी कह सकते है कि आकृति सामग्री को विशेष ढाचे मे ढालती है।

यह तो भूमण्डल के आरम्भ की बाबत हुआ। जैसा हम कह चुके है, भूमण्डल या 'नेचर' के प्रत्यय में व्यवस्था का अंश सम्मिलित है। अब इसकी बाबत कुछ विचार करें।

२. भूमण्डल की व्यवस्था : यंत्रवाद और प्रयोजनवाद

व्यवस्था और अव्यवस्था, क्रम और क्रमहीनता, दोनो संसार मे विद्यमान है। पहला प्रश्न तो यही है कि हमे अव्यवस्था की अपेक्षा व्यवस्था के समाधान की चिन्ता क्यो है? दोनो एक ही स्थिति के तथ्य है। जब मै जूते पहिनने लगता हू, तो किसी विशेष कारण के अभाव मे, कभी दाया जूता पहले पहिनता हूं, कभी बाया। यदि कोई पुरुष, मुझे बताये बिना मुझे देखता रहे, तो वह सौ दो सौ बार देखने के बाद यही पायेगा कि जितनी बार एक क्रिया होती है, लगभग उतनी बार ही दूसरी क्रिया होती है। इसमे हैरानी की कोई बात नही। परन्तु यदि वह देखता है कि मै १०० मे ८५ बार पहले बाया जूता पहनता हू, तो उसके लिए प्रश्न खड़ा हो जाता है! अगर वह देखे कि ६० अन्य मनुष्य भी ऐसा ही करते है, तो उसके लिए प्रश्न और गम्भीर हो जाता है। यहा दो क्रियाओ मे से एक क्रिया के चुनाव का प्रश्न है। अब कल्पना करे कि चुनाव करने वाले अनेक है, और जिन विधियो में से चुनाव करना है, वे भी अनेक है। इस हालत मे स्वाभाविक यही है कि चुनावो में असमानता हो। यदि इस हालत मे भी क्रिया में ७०-७५% समानता पायी जाय, तो हम इसकी ओर से उदासीन हो ही नही सकते।

एक और स्थिति की कल्पना करे। एक मरुभूमि या रेगिस्तान मे १०० पुरुष अलग-अलग एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते है। वहा कोई सीमा-चिह्न नही, न उनके पाव का निशान रेत पर पडता है। उनके लिए कितने सम्भव मार्ग है ? सीधा मार्ग केवल एक है, टेढे मार्गो की कोई गिनती ही नही। अब यदि यह पता लगे कि उनमे बहुसख्या या अच्छी सख्या सीधे मार्ग पर चली है, तो एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खडा होता है। जहा सम्भावना का इतना महत्व हो, वहा अव्यवस्था के लिए तो हम तैयार ही होते है, व्यवस्था का मौजूद होना एक समस्या होती है।

२. व्यवस्था के कुछ रूप

व्यवस्था या एकरूपता कई रूपों में प्रकट होती है। यहा हम तीन रूपों की ओर संकेत करेगे।

(१) द्रव्य और गुणो का सम्बन्ध

(२) कारण-कार्य का सम्बन्ध

(३) पशु-पक्षियो के नैसर्गिक उत्तेजन (इन्स्टिक्ट)

इन तीनो एकरूपताओ का जीवन-व्यवहार के साथ गहरा सम्बन्ध है।

हम प्रत्येक पदार्थ को उसके गुणो से पहचानते है, 'गुणो' से, 'गुण' से नही; क्योकि प्रत्येक वस्तु मे कई गुण पाये जाते है। ये गुण इकट्ठे मिलते है। द्रव्य उनके सयोग का तत्व है। साख्य शास्त्र के अनुसार ज्ञान-इन्द्रिया विशेष गुणो का ज्ञान देती है, मन इन्हे गठित करके, एक पदार्थ का ज्ञान देता है। मन द्रव्य की एकता की रचना नही करता, इसे देखता है। हमारे लिए, वर्तमान प्रसग मे, महत्व की बात यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने अपनत्व को धारण किये रहती है।

दूसरी एकरूपता कारण-कार्य सम्बन्ध की है। यह सम्बन्ध देश मे स्थित पदार्थो का संयोग नही, अपितु काल मे होने वाली घटनाओ का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्थायी है। अपने उद्देश्यो की पूर्त्ति के लिए हमे साधनो का प्रयोग करना होता है, और हम देखते है कि जो साधन किसी विशेष स्थिति मे, आज सफल होता है, वही पहले भी सफल होता रहा है।

नैसर्गिक उत्तेजन जाति के व्यक्तियो मे एक समान मिलते है। ये व्यक्ति के जीवन मे सीखे नही जाते। ये एक उद्देश्य की सिद्धि मे साधक होते है, यद्यपि व्यक्ति को इसका स्पष्ट ज्ञान नही होता। यह उद्देश्य, सीधे या अस्पष्ट रूप में, व्यक्ति या जाति के जीवन को सुरक्षित रखना होता है।

३. व्यवस्था के दो समाधान

इन एकरूपताओ का समाधान कैसे कर सकते है ? लोकवाद कहता है कि प्रकृति के नियम इस समाधान के लिए पर्याप्त है, लोकान्तरवाद के अनुसार इन व्यवस्थाओं को समझने के लिए हमे, लोक से परे और ऊपर एक चेतन और विवेकयुक्त सत्ता की शरण लेनी पडती है।

विज्ञान राशि और शक्ति (मास और एनर्जी) का वर्णन करता है। आजकल एनर्जी का प्रत्यय प्रधान है। पहले 'वस्तु' की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था, अब क्रम या व्यवहार की ओर दिया जाता है। इसके फलस्वरूप, 'लोकवाद' पहले 'प्रकृतिवाद' के पदो मे कथन करता था, अब 'यन्त्रवाद' के पदो मे करता है। यन्त्र-वाद का मर्म क्या है ?

करणो या हथियारो का प्रयोग चिरकाल से मानव-क्रिया का चिह्न बना हुआ है। परन्तु १९ वी शती मे इन करणों ने बहुत पेचीदा रूप ग्रहण कर लिया। ये हथियार मशीने कहलाते है। इग्लैड के जीवन मे मशीन इतनी प्रधान हो गयी कि यन्त्रों का बनाना और यन्त्रो का चलाना नागरिको की बहुसख्या का काम बन गया। कपास का कातना, सूत का बुनना, वस्तु सीना, धोना, सुखाना, तह करना---सब कुछ मशीन से होने लगा। मशीन घरो मे भी घुसी, और इसने खाना पकाना, पात्रो का साफ करना, उन्हे सुखाना आरम्भ कर दिया। खाने की जो चीजे डब्बो मे बन्द बाजार मे बिकती है, उन पर लिखा होता है---'हाथ से न छुआ हुआ।' जो लोग आगे-पीछे, दाये-बाये यन्त्र ही देखे, उनके दिमाग मे यन्त्र का ख्याल प्रमुख हो जाता है, और 'यन्त्रवाद' उनका दार्शनिक सिद्धान्त होने लगता है।

यन्त्र नियम के अनुसार काम करता है; जो एनर्जी उसमे है, वह निश्चित क्रम मे व्यय होती है। यन्त्र कोई चुनाव नही करता, इसके लिए अच्छे-बुरे, उपयोगी-अनुपयोगी, का भेद नही। यदि कही पूर्ण निष्पक्षता मिलती है, तो यन्त्र मे मिलती है। यन्त्रवाद कहता है कि समस्त भूमण्डल भी यन्त्र की तरह नियमबद्ध चल रहा है; यह नियत पथ से इधर-उधर हो ही नही सकता। 'प्रयोजनवाद' इस दावे को स्वीकार नही करता। यह कहता है कि यन्त्र तो बना ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए है। सिलाई की मशीन सीने से पहले बनती है, और इसका बनाने वाला प्रयोजन के साथ काम करता है। यन्त्र तो प्रयोजन का साकार रूप ही है। यन्त्रवादी उत्तर मे कहता है--- 'मै यन्त्र की बाबत कह रहा था; तुमने यन्त्र बनाने वाले की बाबत कहना आरम्भ कर दिया है। अपना विचार यन्त्र तक सीमित रखो; यन्त्र स्वयं तो निष्प्रयोजन चलता

है।' प्रयोजनवाद कहता है कि यन्त्र तो चलता ही नही; यह चलाया जाता है। यन्त्र एक द्वार है जिसकी एक ओर से शक्ति आती है, और दूसरी ओर निकल जाती है। इस मार्ग मे से गुजरने की प्रेरणा करने वाला चेतन आत्मा होता है। जैसा कार्लाइल ने कहा, 'असली जहाज तो जहाज बनाने वाला है।'

यन्त्रवाद और 'प्रयोजनवाद' व्यवस्था के दो समाधान है, और विवाद का विषय बने हुए है। व्यवस्था के उपर्युक्त तीन रूपो के सम्बन्ध मे इन दोनों की जांच करें।

४. द्रव्य-गुण की एकरूपता

जैसा हम देख चुके है, वैशेषिक दर्शन मे द्रव्य के साथ गुण और कर्म का जिक्र किया गया है। गुणों मे प्रधान और अप्रधान का भेद किया जाता है। लोकवाद के अनुसार, भूमण्डल परमाणुओ के संयोग-वियोग का फल है। परमाणुओ में मात्रा, आकृति और गति है। वे ठोस भी है। उनमे और कोई गुण नही।

जो गुण परमाणुओं में पाये जाते है, क्या वे वास्तव मे गुण है?

मात्रा तो गुण नही। आकृति भी इतना ही बताती है कि कोई वस्तु देश वा अवकाश के कितने भाग को घेरे हुए है। गति क्रिया है। किसी वस्तु के ठोस होने का अर्थ यह है कि वह किसी अन्य वस्तु को अपने अन्दर घुसने नही देती, और आवश्यकता पडने पर, आक्रमण का मुकाबला करती है। यह वास्तविक क्रिया नही, क्रिया की योग्यता है।

इस तरह यन्त्रवाद भूमंडल को गुणो से वंचित कर देता है। इसके अनुसार सारी सत्ता परमाणुओ और उनकी गति मे ही है। यह तो भूमण्डल का फीका, अरोचक चित्र है। हम पदार्थों को उनके गुणो से पहचानते है। इन गुणो का अध्ययन हमारी शिक्षा का एक प्रमुख साधन है। जगत का रूप-रंग, मधुर ध्वनि, रस, गंध, स्पर्श हमारे जीवन को मीठा बनाते है। इन गुणो के अभाव मे, सौन्दर्य-विद्या और ललित कला के लिए कोई स्थान ही नही रहता। व्यावहारिक ज्ञान भूमण्डल के तत्व को अति तेज गति के रूप मे ही नही देख सकता। हमारा व्यवहार, हमारा ज्ञान, हमारा आनन्द अधिक मात्रा मे गुणो पर निर्भर है। यदि ये गुण हमारे भास ही है, तो भी ये बहुत मूल्यवान है। ये निष्प्रयोजन नही। भूमण्डल का नाना गुणो से सम्पन्न होना प्रयोजनवाद की पुष्टि करता है।

५. कारण-कार्य की एकरूपता

विज्ञान मे कारण-कार्य सम्बन्ध प्रमुख प्रत्यय है। इस सम्बन्ध का ज्ञान कैसे होता है?

जहा तक वाह्य घटनाओं का सम्बन्ध है, हम घटनाओ मे एक क्रम देखते है। निर्जीव पदार्थो की हालत मे, प्रयोजन के भाव या अभाव का स्पष्ट पता नही चलता।

चेतन और अचेतन में इस सम्बन्ध का सबसे स्पष्ट दृष्टान्त वह क्रिया है, जो मन की प्रेरणा से शरीर मे होती है। ऐसी हालत मे भी, कुछ मनोवैज्ञानिको के विचारानुसार हमे अपने निश्चय और अंगो की गति मे भेद करना चाहिए। जो परिवर्तन शरीर मे हुआ है, वह ऐसे नियम के अधीन हुआ है, जो हमारे शासन मे नही। कारण-कार्य का स्पष्ट रूप तो यही है कि हम अपनी इच्छा से अपने ध्यान को एक या दूसरे विषय की ओर फेर सकते हैं। हमारे शरीर की क्रियाएं, चाहे वे हमारी इच्छा का फल हो, या रक्त के दौरे की भाति, हमारी इच्छा के बिना हो, प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही होती हे। जीवन-शक्ति अपने आपको स्थिर रखने के लिए इनका प्रयोग करती है। हमारा विचार तो सारा किसी प्रयोजन के साथ ही होता है। यन्त्र की हालत मे कोई नूतनता नही होती। जीवन तो, जैसा बर्गसा ने कहा है, नयेपन का नमूना ही है। जीवन-शक्ति अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रकृति को साधन बनाती है।

६. नैसर्गिक उत्तेजन

जीवन-शक्ति और चेतना का मेल नैसर्गिक उत्तेजन की हालत में होता है। यन्त्रवाद वृक्षो आदि को ही नही, पशु-पक्षियो को भी यन्त्र के रूप में देखता है। इस प्रतिज्ञा की जाच करे। नैसर्गिक उत्तेजन में, व्यक्ति के अन्दर से प्रवृत्ति का आविर्भाव होता है, और बाहर मे उसकी गति निश्चित होती है। बिल्ली को भूख लगती है। वह व्याकुल इधर-उधर चलने लगती है। पास से भेड गुजर जाती है; बिल्ली की अवस्था में कोई भेद नही पड़ता। इतने में उसे एक चूहा दिखायी देता है। वह ठहर जाती है, और कुछ प्रतीक्षा करती है। फिर धीरे-धीरे चूहे की ओर चलती है। जब अन्तर कम हो जाता है, तो चूहे पर झपट पडती है। यन्त्रवादी कहता है कि बिल्ली की क्रिया के कई अंश हे। प्रत्येक अंश 'सहज-क्रिया' है, और समस्त त्रिया सहज-क्रियाओं की लड़ी या जंजीर है। प्रत्येक अंग मे एक आक्रमण होता है, और बिल्ली उसपर एक

निश्चित प्रक्रिया करती है। इसमें न उसकी इच्छा का दखल है, न किसी प्रयोजन के लिए स्थान है।

'मनोविज्ञान नैसर्गिक उत्तेजन को अमानसिक नही', अपितु मानसिक प्रक्रिया बताता है। इस प्रक्रिया मे ये लक्षण स्पष्ट पाये जाते हैं :—

(१) बिल्ली प्रतीक्षा करती है। इसका अर्थ यह है कि वह उठी हुई प्रवृति को कुछ समय के लिए रोकती है, क्योंकि ऐसा करना 'उद्देश्य पूर्ति' के लिए लाभकारी है।

(२) बिल्ली सफलता और असफलता मे भेद करती है।

(३) बिल्ली इस तजुर्बे की दृष्टि मे अपने क्रम को बदल लेती है। उद्देश्य दृष्टि मे रहता है; साधनो में परिवर्तन होता जाता है।

चूहा द्वार के निकट है। वह जब बिल्ली को देखता है, तो भागता है, और बाहर दीवार के साथ दौडने लगता है। बिल्ली उसका पीछा करती है। यन्त्रवादी कहता है कि जो कुछ बिल्ली को दिखायी देता है, वह उसकी क्रिया को निश्चित करता है। अगर कमरे में दो द्वार है, और चूहा दूसरे द्वार की दिशा मे भागता है, तो बिल्ली के लिए आवश्यक नही कि वह चूहे का पीछा ही करे। वह दूसरे द्वार की ओर दौडती है, और चूहे को आगे से आ मिलती है। ऐसी हालत मे, उसकी क्रिया महज क्रियाओं की लडी नही। ऐसा करने मे बिल्ली नैसर्गिक उत्तेजन के यन्त्रवादीय सिद्धान्त का खण्डन कर देती है।

बन्दरों पर जो निरीक्षण हुए है, वे भी यही बताते है कि नैसर्गिक उत्तेजन का रूप यन्त्र की क्रिया से भिन्न है। एक बन्दर को पिजडे मे बन्द किया गया। उसकी भुजा सलाखो मे से बाहर निकल सकती थी। बाहर निकट ही कुछ केले रखे गये। बन्दर ने केले को पिजडे मे खीच लिया, और अपनी तृप्ति कर ली। उसके बाद केलों को परे रखा गया, और पिजडे के पास एक छड़ी रख दी गयी। कुछ असफल यत्न के बाद बन्दर ने छडी से केले को खीचा, और खाया। बन्दर के लिए इससे भी कठिन स्थिति पैदा की गयी। उसकी एक भुजा को कुछ दिनों के लिए लकवे से शक्तिहीन कर दिया गया, और एक छड़ी की जगह बास के दो टुकडे रख दिये गये, जिनमे एक दूसरे मे दाखिल हो सकता था। भूख से व्याकुल बन्दर ने, पशुओ के सीखने की विधि के अनुसार दो टुकड़ो की एक छडी बनाना सीखा। यह क्रम कुछ दिन जारी रहा। जब रोगी भुजा ठीक होने को आयी तो स्वस्थ भुजा को लकवा मार दिया गया। अब बन्दर क्या कर सकता था ? उसने यन्त्रवादियो के सिद्धान्त की परवाह न की, और तुरन्त उस भुजा मे, जो अभी स्वस्थ हुई थी, बांस के टुकड़ों को छड़ी बनाया,

और केला खींच लिया। यन्त्रवाद के अनुसार, नैसर्गिक उत्तेजन मे तन्तुजाल मे एक पथ बन जाता है, और एनर्जी, एक सिरे से प्रविष्ट होकर, उस पथ पर चलकर, दूसरे सिरे पर जा निकलती है। बन्दर की हालत मे एक भुजा मे ऐसा पथ बना था, दूसरी भुजामें नही बना था। बन्दर को अभ्यास से सीखने की, अर्थात लगातार यत्न मे दूसरी भुजा मे पथ बनाने की आवश्यकता नही हुई। जो कुछ एक भुजा के प्रयोग से सीखा था, वह दूसरी भुजा के काम भी आ गया।

इस विवरण से पता लगता है कि नैसर्गिक उत्तेजन मे मन सक्रिय होता है, और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए नाना प्रकार के साधन बरतता है। वास्तव मे सारा मानसिक जीवन प्रयोजनात्मक है। जब पक्षी एक स्थान से उडता है, तो किसी अन्य स्थान पर जा बैठने के लिए ही उडता है। हमारी मानसिक गति भी एक स्थिति को छोड कर दूसरी स्थिति को पहुंचने के लिए होती है।

इस तरह व्यवस्था की तीनो एकरूपताए, जिन्हे हमने अध्ययन के लिए चुना है यन्त्रवाद की अपेक्षा प्रयोजनवाद का अधिक सन्तोषजनक समाधान जाहिर करती है।

पहले भूमण्डल के आरम्भ की बाबत विचार हुआ था, पीछे इसकी वर्तमान स्थिति के कुछ पहलुओ की बाबत विचार हुआ है। इन दोनो से सगत प्रश्न यह है कि आरम्भ और वर्तमान के मध्य मे क्या होता रहा है? वर्तमान स्थिति जैसी कुछ है, कैसे बन गयी? यह प्रश्न आगामी दो अध्यायो का विषय है।

विकासवाद (१)

विकासवाद एक तरह से भूमण्डल का जीवन-वृत्तान्त है।

भूमण्डल के दो प्रमुख चिह्न आरम्भ से ही साधारण मनुष्यो और विचारकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते रहे है। ये पदार्थो का नानात्व और उनके भेद हैं। नवीन काल में, पश्चिम मे इन चिह्नों पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया है। कांट ने कहा कि मनुष्य का बन्दर की सन्तान होना सम्भव है। १९ वी शती में, भौतिक-विज्ञान की उन्नत्ति ने सर्वसाधारण के कुछ विचारो को धक्का लगाया। शतियो से लोग श्री मूसा के इस विवरण को मानते आये थे कि सृष्टि-उत्पत्ति छः दिनों में हुई, और विशेष क्रम में हुई। भूगर्भ-शास्त्र ने एक नयी पुस्तक लोगों के सामने रख दी। इस पुस्तक के अध्ययन से पता लगा कि सृष्टि को वर्तमान अवस्था में पहुंचने मे, अनेक अवस्थाओ से गुजरना पडा है, और उन अवस्थाओं का विवरण पर्वतो की तहों में अनेक स्थानो मे मौजूद है। पहिला विचार यह था कि सृष्टि जैसे यह रची गयी, वैसी ही चलती आयी है। विज्ञान ने कहा कि विकास के स्पष्ट, अखण्डनीय, प्रमाण मिलते है। इस मतभेद ने धर्म और विज्ञान के विवाद का रूप ग्रहण कर लिया।

जिन लोगो ने विकासवाद का बलपूर्वक समर्थन किया, उनमे चार्ल्स डार्विन और हर्बर्ट स्पेन्सर के नाम विशेष महत्व के है। १९ वी शती के मध्य के करीब ये दोनों विवेक के आकाश मे प्रकट हुए, और ऐसे चमके कि कुछ वर्षो मे ही सारा यूरोप विकासवाद की चर्चा करने लगा।

डार्विन वैज्ञानिक था। उसने अपने आप को प्राणियो के विकास तक सीमित रखा। स्पेन्सर दार्शनिक था। उसने अपने विवेचन के लिए कोई सीमा निश्चित नही की।

वर्तमान अध्याय मे हम स्पेन्सर और डार्विन के मतों का अध्ययन करेंगे।

१. हर्बर्ट स्पेन्सर

हर्बर्ट स्पेन्सर (१८२०–१९०३) के अनुसार हमारा ज्ञान तीन रूपों में व्यक्त होता है :—

(१) असंगत ज्ञान। यह व्यवहार के लिए पर्याप्त समझा जाता है।

(२) अपूर्ण-संगत ज्ञान। इसे विज्ञान कहते हैं। इसका उद्देश्य किसी विशेष क्षेत्र के तथ्यो को संगत करना है।

(३) पूर्ण-संगत ज्ञान। यह दर्शन का तत्व-ज्ञान है। यह समस्त ज्ञान को शृंखला-बद्ध करना चाहता है।

स्पेन्सर दार्शनिक था। उसका लक्ष्य किसी ऐसे नियम की खोज करना था, जो ज्ञान के हरएक भाग पर समान लागू हो सके। ऐसा नियम दो रूपो मे ख्याल किया जा सकता है—कोई व्यापक क्रम हो, जिसके अनुसार सब कुछ होता रहा है, और हो रहा है; या कोई ऐसा उद्देश्य हो, जिसकी ओर भूमण्डल की गति हो रही है। स्पेन्सर ने पहले विचार को अपनाया, और ससार-प्रवाह को समझने के लिए, अन्त की ओर नही, अपितु आरम्भ की ओर देखा। विज्ञान का दृष्टि-कोण प्रायः यही होता है। स्पेन्सर वैज्ञानिकों का दार्शनिक था।

स्पेन्सर ने ऐसे नियम या सूत्र की खोज की, जो सत्ता के विविध स्तरो पर लागू हो सके। जब उसे अपने विचार मे, यह सूत्र मिल गया, तो ४० वर्ष इसकी व्याख्या मे लगा दिये। उसने मौलिक नियमो पर, प्राण-विद्या पर, मनोविज्ञान पर, समाज-शास्त्र पर, और नीति पर पुस्तके लिखी। स्पेन्सर का व्यापक नियम क्या था?

स्पेन्सर विकासवाद के सूत्र का इन शब्दो मे बयान करता है:—"विकास प्रकृति का सयोग और इसके साथ, गति का अपव्यय या विनाश है। इस व्यवहार में, प्रकृति अनिश्चित, असंगत, समानता से निकल कर निश्चित, संगत विविधत्व की ओर जाती है। इस परिवर्तन मे, जो गति विद्यमान रहती है, उसमे भी प्रकृति के परिवर्तन के समान परिवर्तन होता है।" यह एक डरावना सूत्र दिखायी देता है। स्पेन्सर ने दस पुस्तकों मे इसकी व्याख्या की। इसका अर्थ क्या है?

आकाश मे घने बादल दिखायी देते है। आधी आती है, और वह अन्य स्थानो में जा पहुचते है: कुछ गर्म इलाके में, जहा वह वायु मे मिलकर अदृष्ट हो जाते है; कुछ ठंढक के कारण वर्षा के कतरे बन जाते है, कुछ ऊचे पवर्तो के शिखर पर पहुच कर बर्फ बन जाते है। बादल के रूप मे, जल के परमाणु-समूह पानी के कतरे बनने के लिए पर्याप्त ठंढक प्राप्त नही कर पाये थे, परन्तु एक दूसरे के इतने निकट आ गये थे कि अदृष्ट नही, अपितु दृष्ट हो गये थे। अब उन्होने तीन रूप धारण कर लिये है। बर्फ ठोस है; इसकी मात्रा और आकृति निश्चित है। पानी की मात्रा निश्चित है,परन्तु इसे जिस पात्र मे डाले, उसी का रूप ग्रहण कर लेता है। इसका अर्थ यह है कि इसके परमाणु रहते एक दूसरे से संयुक्त है, परन्तु एक दूसरे के सम्बन्ध मे अपना स्थान बदलने

मे समर्थ है। गैस की हालत में मात्रा तो बनी रहती है, परन्तु विस्तार और आकृति के सम्बन्ध मे कोई रोक नही दिखाई देती। जो गैस अभी एक बोतल में बन्द थी, वह कमरे मे भर जाती है।

हम संसार मे अनेक प्राकृत पदार्थ देखते है—ईट, पत्थर, सोना, वृक्ष, फल, नद, पवर्त, चाद, सूर्य आदि। इन सबके निश्चित आकार है; यह सब एक दूसरे से भिन्न है। स्पेन्सर कहता है कि यह निश्चितता और नानात्व विकास के फल है; आरम्भ मे प्रकृति अभिन्न थी, और आकृति से शून्य थी। स्पेन्सर ऐसी अवस्था से आरम्भ करता है; वह यह नही कहता कि प्रकृति कहा से आयी। वह यह भी फर्ज करता है कि भेद अव्यक्त रूप मे विद्यमान था; काल की गति मे यह व्यक्त हुआ। समान परमाणु, सयुक्त हुए, इसके फलस्वरूप असमान समूह प्रकट हो गये। जहा केवल अभेद और समानता थी, वहा अनेकता और भेद पैदा हो गये। भेद-रहित, रूप-रहित, आकार-रहित अव्यक्त मे संयोग हुआ, और इसके कारण अनिश्चितता के स्थान मे निश्चितता प्रकट हुई, और अभेदता के स्थान मे विविधत्व प्रकट हुआ।

परन्तु यह विविधत्व भी निरपेक्ष नही। हम अनेकता के साथ एक नये प्रकार की एकता भी देखते है। सूर्य, पृथिवी, नक्षत्र, चांद आदि असंगत वस्तुएं नही। पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है, चाद पृथिवी के गिर्द घूमता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अगणित छोटे-छोटे पदार्थ आकाश मे चक्कर काट रहे है। कभी-कभी उनमे से कोई पृथिवी के इतना निकट आ जाता है कि आकर्षण के दबाव मे 'जलते तारे' के रूप मे पृथिवी पर आ गिरता है। सूर्य, पृथिवी, चांद आदि मण्डल है, असंगत पदार्थ नही। दूर न जाय, अपने शरीर में ही हम मण्डल का अच्छा नमूना देखते है। इसका अर्थ यह है कि पदार्थो मे, एक दूसरे पर आश्रित होने का भाव पाया जाता है। इस सम्बन्ध की ओर संकेत करता हुआ, स्पेन्सर कहता है कि विकास में, असगतता का स्थान संगतता ले लेती है।

अब विकास के लक्षण की ओर फिर देखे। जहां तक प्रकृति का सम्बन्ध है, विकास में :—

बिखरे हुए परमाणुओ का संयोग होता है;
समानता के स्थान मे विविधत्व प्रकट होता है;
अनिश्चितता का स्थान निश्चितता ले लेती है;
असंगतता के स्थान मे संगठन प्रकट होता है।

प्रकृति के साथ, स्पेन्सर गति को भी फर्ज करके चलता है।

प्राचीन परमाणुवादियों के लिए, गति का आविर्भाव एक समस्या थी। स्पेन्सर

इस झमेले में नही उलझता। वह गति की हालत मे होने वाले परिवर्तन का भी जिक्र करता है। प्राकृत पदार्थो के निर्माण के साथ, एनर्जी आकाश मे बिखर जाती है; व्यवहार की दृष्टि से वह जाया हो जाती है। सारी एनर्जी इस तरह जाया हो जाने पर, पूरी अव्यवस्था फिर लौट आयेगी। जब तक यह नही होता, तब तक जो एनर्जी पदार्थो मे टिकी रहती है, उसमे भी उसी प्रकार का परिवर्तन होता है, जैसा प्रकृति में होता है।

यह जड जगत के विकास की कथा है।

विकास का तत्व निरन्तरता है, भूमण्डल के विकास मे कही रुकावट नही।

स्पेन्सर की पुस्तकों की जिल्दो पर एक चित्र होता था, एक चट्टान पर से एक वृक्ष निकलता है, और उसपर एक तितली बैठी है। चित्र का आशय यह है कि जड प्रकृति मे जीवन निहित है, और जीवन मे चेतना निहित है। पर्याप्त समय बीतने पर, जड प्रकृति मे ही जीवन व्यक्त हो जाता है, और पीछे जीवन मे चेतना व्यक्त हो जाती है। हमे निर्जीव और सजीव मे, अचेतन और चेतन मे, असंगति प्रतीत होती है, परन्तु इसका कारण यह है कि हमारी दृष्टि काल के अति अल्प भाग मे ही देखती है। कुदरत का काम बहुत धीरे होता है, और करोडो अरबो वर्षो मे हो रहा है।

प्राकृत दृष्टि-कोण से चट्टान वृक्ष का भार सहज ही सम्हार सकती है और वृक्ष तितली का भार उठा सकता है। परन्तु जरा गहरा देखें, तो पता लगता है कि चट्टान के लिए वृक्ष का बोझ असह्य है, और वृक्ष के लिए तितली का उठाना सम्भव नही। प्रकृति मे राशि (मास) और गति (एनर्जी) होती है; इनमे जीवन के साथ कोई समानता नही। गति अन्य गति का रूप धारण कर सकती है; जीवन नही बन सकती। इसी तरह, जीवन एक रूप से दूसरे रूप में बदल सकता है, परन्तु चेतना नही बन सकता। इस कठिनाई ने विकासवाद मे निरपेक्ष और मध्यवर्ती का भेद पैदा कर दिया। निरपेक्ष विकासवाद समस्त सत्ता मे निरन्तरता देखता है; मध्यवर्ती विकासवाद के अनुसार, जड़ प्रकृति, वनस्पति और चेतन प्राणियों की तीन स्वतन्त्र श्रेणिया हैं। इनमें प्रत्येक में अपना विकास होता है, गति से जीवन व्यक्त नही होता, और जीवन से चेतना व्यक्त नही होती।

हर्बर्ट स्पेन्सर इनमें से किस श्रेणी मे है? आम ख्याल यह है कि वह निरपेक्ष विकासवादी था। जिस चित्र की ओर ऊपर संकेत किया गया है, उससे भी यही प्रतीत होता है, परन्तु यह ख्याल सन्देहयुक्त-सा है।

प्राणविद्या पर लिखते हुए, स्पेन्सर जीवन का निम्न विख्यात लक्षण देता है :—

'जीवन आन्तरिक सम्बन्धों और वाह्य सम्बन्धों की निरन्तर अनुकूलता है

अन्य शब्दो मे, जीवन प्राणी और उसके वातावरण मे अनुकूलता का नाम है। जीवन की सम्पूर्णता इस अनुकूलता की सम्पूर्णता पर निर्भर होती है। इस अनुकूलता का अभाव ही मृत्यु है। इस लक्षण मे यह नही बताया है कि इस अनुकूलता के उत्पादन मे प्राणी और वातावरण क्या भाग लेते है। जड पदार्थ भी वातावरण के अनुकूल ही होते है। भवन की नीव और दीवारे जब तक दृढ़ होती है, भवन भवन बना रहता है, जब दृढ नही रहती, तो गिर कर भूमि पर आ पड़ता है। दोनो हालतों मे अनुकूलता एक जैसी है। भेद भवन मे रहने वाले के लिए है, जिसने उसे गर्मी-सर्दी से बचने के लिए बनाया था। उसके प्रयत्न में भविष्य की ओर देखना, आनेवाली स्थिति के लिए तैयारी करना आवश्यक अंग है। जब सैर मे मुझे भयावना कुत्ता मिलता है, तो मै छडी लेने घर नही आता; घर से छडी लेकर चलता हू। स्पेन्सर ने भी आरम्भ मे नही, परन्तु पीछे जीवन के इस चिह्न को देखा, और नये संस्करणों में 'जीवन के क्रियाशील अश' शीर्षक का एक अध्याय दाखिल कर दिया। इस अध्याय मे उसने कहा—'हम यह स्वीकार करने पर विवश है कि जीवन, अपने तत्व मे, भौतिक और रासायनिक पदो मे समझा नही जा सकता।' यह कह कर उसने निरपेक्ष विकासवाद का परित्याग कर दिया।

चेतना की बाबत भी हम यही देखते है। 'मनोविज्ञान' पर लिखते हुए, स्पेन्सर कहता है :—

'क्या हम परमाणु के झकोले और तन्तुजाल के आघात को एक प्रकार की गति समझ सकते है? हम ऐसा करने मे असमर्थ है। जब हम इन दोनों को एक दूसरे के निकट लाते है, तो पूर्ण रूप मे, स्पष्ट दिखायी देता है कि चेतना के एकाग और गति के एकाग में कुछ भी सांझा नही।'

प्रकृतिवाद का परित्याग, इनमे अधिक साफ शब्दों मे, क्या हो सकता है?

जिस स्थिति के साथ लोकवाद ने आरम्भ किया था, उसे वह कायम नही रख सका।

२. चार्ल्स डार्विन

१७ वी शती मे गणित तत्व-ज्ञान पर छाया हुआ था। महाद्वीप के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट, स्पीनोजा, और लाइबनिज—तीनों गणित में विशेषज्ञ थे। उन्होंने तत्व-ज्ञान को गणित के साचे मे ढालने का यत्न किया। १८ वी शती में मनोविज्ञान ने तत्व-ज्ञान पर विशेष प्रभाव डाला। लाक, बर्कले, और ह्यूम ने दार्शनिक विवेचन मे ज्ञान के स्वरूप पर अधिक बल दिया। काट का दृष्टि-कोण भी यही था। १९ वीं

शती में तत्व-ज्ञान की स्थिति ने एक और पलटा देखा। प्राण-विद्या एक स्वतन्त्र विद्या के रूप मे प्रकट हो चुकी थी। अब इसने तत्व-ज्ञान को प्रभावित किया। चार्ल्स डार्विन (१८०९-१८८२) ने जीवधारी-विकास को अपनी खोज का विषय बनाया।

डार्विन से पूर्व भी इस सम्बन्ध मे कुछ काम हो चुका था। उसका दादा, ईरैस्मस डार्विन, एक प्रसिद्ध चिकित्सक और कवि था। उसने 'पौदो के स्नेह' नाम की एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक ने लोगो के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किया। यह लोकप्रियता शीघ्र ही समाप्त हो गयी, जब ईरैस्मस के ख्याल की हसी उडाने के लिए, एक और लेखक ने 'तिकोणो के स्नेह' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित कर दी। पीछे ईरैस्मस ने 'प्राणियो का विकास' नाम की पुस्तक लिखी। इसका प्रभाव कुछ नही हुआ।

ईरैस्मस की अपेक्षा, लैमार्क (१७४४-१८२९) का काम अधिक महत्व का था। चार्ल्स डार्विन ने लैमार्क के काम को आगे बढाया। लैमार्क के विचार मे प्रमुख बातें ये थी :—

(१) प्राणियो मे नानात्व की बडी मात्रा विद्यमान है।

(२) इस नानात्व के पैदा करने मे, वातावरण का बडा हाथ है। घास मे रहने वाले कीडे हरे रग के हो जाते हैं, बर्फीले इलाको मे रहने वाले जन्तु सफेद हो जाते हैं।

(३) जब कोई अग प्रयोग मे आता हो, तो उसकी स्थिति दृढ हो जाती है, जब उसका प्रयोग न हो, तो कमजोर हो जाती है। जो पशु-पक्षी अधेरे मे ही रहते हैं, वे कुछ नस्लो के बाद देखने की शक्ति खो बैठते है। अगो का प्रयोग-अप्रयोग भी, वातावरण की तरह, नानात्व उत्पन्न करने मे एक कारण होता है।

डार्विन को विशेष प्रेरणा एक अनोखे स्थान से मिली। एक पादरी, मैल्थस (१७६६-१८३६) ने 'आबादी' पर एक पुस्तक लिखी। मैल्थस ने देखा कि जन-सख्या तेजी से बढ रही है, और निर्वाह की सामग्री उसी वेग से नही बढती। गणित की परिभाषा मे उसने अपने विचार को इस नियम के रूप मे प्रकट किया :—'खाने वालो की संख्या मे रेखागणित-सम्बन्धी वृद्धि होती है; और खाद्य-सामग्री की मात्रा मे अंकगणित-संबंधी वृद्धि होती है।'

दृष्टान्त के लिए, यदि हम १ से आरम्भ करे, तो ये दो पंक्तिया निम्न रूप ग्रहण करेगी :—

१, २, ३, ४, ५, ...

१, २, ४, ८, १६,......

मैल्थस इस नतीजे पर पहुंचा कि कहीं से भी आरम्भ करें, कोई समय अवश्य आयेगा, जब खानेवालों की संख्या खाद्य-सामग्री की मात्रा को पीछे छोड जायगी। चूंकि सब जी नहीं सकेंगे, कुछ को मरना होगा। कुदरत तुल्यता बनाये रखने के लिए, अकाल, रोग और युद्ध का प्रयोग करती है। मैल्थस के ध्यान में भविष्य प्रधान था। उसके विचारों ने डार्विन के ध्यान को भूतकाल की ओर फेरा। उसने सोचा कि मैल्थस को जो चिन्ता भविष्य की बाबत लगी है, वही भूतकाल में होता तो नही रहा है?

उसने इस प्रश्न को अपने अनुसन्धान का विषय बनाया।

१. डार्विन का मत

डार्विन दार्शनिक न था, वैज्ञानिक था। दार्शनिक एकान्त मे भी विचार कर सकता है, वैज्ञानिक को अध्ययन के लिए तथ्यो को इकट्ठा करना होता है। डार्विन ने एक जहाज पर पाच वर्ष अनेक स्थानो का भ्रमण किया, और वनस्पति और पशु-पक्षियों की बाबत बहुत सामग्री संग्रह की। इसके बाद, उस सामग्री का वैज्ञानिक परीक्षण किया। जो कुछ उसे मालूम हुआ, वह प्रतिज्ञा की स्थिति रखता है, प्रमाणित तथ्य या नियम का पद नही रखता। प्रतिज्ञा की स्थिति मे, इसका महत्व बहुत बडा है। अब हर प्रकार के विचार मे विकासवादीय दृष्टि-कोण प्रमुख दृष्टि-कोण बन गया है। किसी स्थिति को समझने के लिए, हम देखना चाहते है कि यह वर्तमान अवस्था मे कैसे आ पहुंची है।

वनस्पति की दुनिया में हम निस्सीम नानात्व पाते हैं। आन्तरिक बनावट की समानता की नीव पर हम, पदार्थों को श्रेणियों और उप-श्रेणियों मे बाटते है। आम कई प्रकार के है, फूल भी अनेक प्रकार के है। हम आमों को एक जाति मे रखते है; फूलों को दूसरी जाति मे रखते है। इसी तरह घोड़ों को एक जाति में रखते है; कुत्तों को दूसरी जाति मे रखते है। घोड़ों और कुत्तों दोनों की कई उप-जातिया है; उनमे आपस का भेद उतना नही होता, जितना घोडे और कुत्ते में होता है। उप-जातियां तो एक दूसरे मे बदलती दिखायी देती है; जातियों की हालत मे ऐसा परिवर्तन नही होता। जाति-भेद का आरम्भ कैसे हुआ? जातियों का मूल कारण क्या है? डार्विन ने इस प्रश्न को अपनी खोज का विषय बनाया। डार्विन इस नतीजे पर पहुंचा कि जाति और उप-जाति का भेद तात्विक भेद नही। यह विकास का परिणाम है। जातिया वह उप-जातिया है, जिन्होंने, कुछ लाभकारी विशेषताओं के कारण, प्रमुख और स्थायी स्थिति प्राप्त कर ली है।

वास्तव में सारी वनस्पति एक ही स्रोत से चली है, और सारे पशु-पक्षी, जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित है, एक ही परिवार हैं। यही नही, अन्त में वनस्पति और चेतन प्राणी एक ही जीवाणु या घटक की सन्तान हैं। भूमण्डल का सारा जीवित भाग एक ही कुटुम्ब है। डार्विन के मत का सार यह है कि 'वर्तमान भूत की सन्तति और भविष्य का जन्मदाता है।' जो कुछ अन्त मे है, वह आरम्भ में ही गुप्त रूप मे विद्यमान था।

२. विकास-मार्ग

प्राणीमात्र विकास के प्रभाव मे आये हैं। विकास का आम रूप-रंग क्या रहा है?

जहा विकास ने उन्नति का रूप ग्रहण किया है, वहा इसके दो चिह्न प्रमुख रहे हैं :—

(१) सरलता के स्थान मे नानात्व प्रकट हुआ है। अंगो और प्रक्रियाओ मे विविधता पैदा हुई है।

(२) सारे अंशों मे बनावट की समानता तो नही रही, न ही उनकी प्रक्रियाएं एक सी रही हैं; परन्तु उस समानता के स्थान मे उद्देश्य की एकता व्यक्त हो गयी है। सारे भाग समस्त के कल्याण के लिए काम करते हैं। किसी स्वस्थ मनुष्य का शरीर इन दोनों चिह्नों का अच्छा उदाहरण है। शरीर की बनावट और इसकी प्रक्रियाएं विज्ञान की दो शाखाओ का विषय बन गयी हैं।

परन्तु जीवन सदा इस मार्ग पर नही चलता। कभी-कभी निश्चलता और अवनति भी प्रकट होते हैं। तथ्य तो यह है कि उन्नति कही-कही हुई है। निश्चलता की हालत में, किन्ही कारणों से विकास-परिवर्तन विशेष मंजिल पर पहुंच कर रुक गया है। अवनति की हालत मे, गति रुकी ही नही, विपरीत दिशा मे होने लगी। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। पक्षियो के पक्ष उनके बहुमूल्य अग है, यह उन्हे आकाश में जिधर चाहें, जाने के योग्य बनाते हैं। शुतर्मुर्ग को शरीर की मात्रा बढाने का शौक हुआ, और वह, पक्ष रखते हुए भी, उडने की शक्ति खो बैठा। प्रत्येक चौपाये के शरीर पर दर्जनो प्राणी पलते हैं, जो पहले स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करते थे।

३. जाति परिवर्तन

जाति-परिवर्तन की पुष्टि मे निम्न हेतु दिये जाते हैं:—

(१) मनुष्य अपने यत्न से थोड़े समय मे ही वनस्पति और पशु-पक्षियों की उप-जातियों में परिवर्तन कर लेता है। आम, फल, गोभी आदि के नये नमूने उत्पन्न किये जाते हैं। पशु-पक्षियों मे भी, सीमाओं के अन्दर, भिन्न उप-जातियों के संयोग

से नयी उप-जातियां पैदा हो जाती हैं। जो कुछ मनुष्य, सीमित काल में, उप-जातियों की हालत में कर सका है, वह कुदरत के लिए असीम काल में कर लेना असम्भव नहीं। सम्भावना तो ऐसे परिवर्तन के पक्ष में है।

(२) जातियों में पर्याप्त भेद है, परन्तु उप-जातियों को जातियों के मध्य में ऐसे क्रम से रखा जा सकता है, और जातियों को भी ऐसे क्रम से रखा जा सकता है, कि एक क्रमिक पंक्ति सी बन जाती है। भाई-बहिन एक माता-पिता की सन्तान होते हैं, चचेरे, मौसेरे भाई एक दादा-नाना के पोते-दोहते होते हैं। पीछे हटते जाय, तो सम्बन्ध हल्का होता जाता है, परन्तु कुछ न कुछ बना तो रहता ही है। यही अवस्था वनस्पति के नाना रूपों में, और चेतन प्राणियों के नाना रूपों में दिखाई देती है। और चेतन और अचेतन जीवधारियों के किनारे पर जो प्राणी है, उनकी बाबत निश्चय से कह ही नही सकते कि वे किस श्रेणी में हैं।

(३) जो जन्तु अब भिन्न जातियों में है, उनके शरीरों की बनावट और अगों के क्रम में अद्‌भुत समानता दिखायी देती है। ज्ञान-इन्द्रिया, कर्म-इन्द्रिया, मेदा, रक्त-नालियां, तन्तु-जाल आदि की स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी ये जातिया बहुत निकट थी।

(४) बहुत से जन्तुओं के शरीरों में कुछ अंग ऐसे मिलते है, जो अब किसी काम के नही, परन्तु सम्भवतः पहले अपना कार्य करते थे. कुछ अन्य जन्तुओं की हालत में, वे अब भी काम के अंग हैं। इससे भी प्रतीत होता है कि ये जातिया कुछ अन्य जातियों से सम्बद्ध रही हैं।

(५) विकासवाद का सबसे सबल पोषक जीवन के इतिहास का वह लेख है, जो पर्वतों में सुरक्षित पडा है। भूगर्भ विद्या ने इस लेख का जो अध्ययन किया है, उससे पता चलता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जाति प्रवर्तन होता रहा; काल की गति के साथ, कुछ जातिया समाप्त हो गयी, और कुछ व्यक्त हो गयी। जीवन की जंजीर की कई लुप्त कडिया मिल गयी हैं।

४. विकास के प्रमुख कारण

डार्विन ने अपने अनुसन्धान में विशेष ध्यान उन अंशों की ओर दिया, जिन्होंने विकास-मार्ग को निश्चित किया है। उसने दो ऐसे अंशों का वर्णन किया है :—

(१) जो लाभकारी चिह्न व्यक्ति में होते है, वह वंश-परम्परा से सन्तान में जा पहुंचते हैं।

(२) जीवन में योग्य और अयोग्य व्यक्तियों, उप-जातियों और जातियों में

संग्राम होता है। इसके फलस्वरूप, जो बचने के योग्य होते है, बच रहते है; जो योग्य नही होते, वह मृत्यु के मुह मे जा पहुंचते है।

डार्विन ने विशेष महत्व दूसरे अंश को दिया।

इन दोनो अंशो पर कुछ विचार करे।

डार्विन की पहिली धारणा के सम्बन्ध मे तीन प्रश्न उठते है :—

(१) चिह्नों में लाभदायक और हानिकारक का भेद किस नीव पर आश्रित है ?

(२) चिह्नों की यह विभिन्नता उत्पन्न कैसे हो जाती है ?

(३) इस बात का क्या प्रमाण है कि गुण माता-पिता से सन्तान मे परम्परा से जा पहुंचते हैं ?

स्पेन्सर ने कहा था कि जीवन का उद्देश्य स्वय जीवन ही है। जो कुछ जीवन को बढ़ावा देता है, वही अच्छा है; जो, इसके विपरीत, जीवन की मात्रा वा इसके विस्तार मे कमी करता है, वह बुरा है। विकासवाद की दृष्टि मे हित और अनहित का अर्थ इतना ही है कि कोई अंग या क्रिया जीवन को बढावा देती है, या उसे हानि पहुंचाती है।

डार्विन का प्रमुख काम यह बताना है कि अनेक गुणो मे चुनाव कैसे होता है। हम जानना चाहते हैं कि यह बहुतायत प्रकट कैसे हो जाती है। डार्विन से पहले लैमार्क ने कहा था कि ये भेद वातावरण के भेद से उत्पन्न होते है। प्राकृत वातावरण हर कही एक समान नही होता। इसके फलस्वरूप प्राणियो की स्थिति मे भी भेद हो जाता है। डार्विन ने इस भेद के समाधान की ओर अधिक ध्यान नही दिया। उसने इसे एक मौलिक तथ्य स्वीकार कर लिया। प्राणियों मे गुण-भेद आकस्मिक घटना है; यह दैवयोग से प्रकट हो गया है। हितकर गुणो को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक है कि ये गुण एक पीढी से दूसरी पीढी तक पहुंच सके। इसी तरह व्यक्ति के गुण जाति के गुण बन सकते है। व्यक्ति के हितकर गुण दो प्रकार के होते हैं— एक वह जो उसके जीवन मे, उसकी स्थिति के कारण उसे प्राप्त होते है, दूसरे वह गुण जिनका जीवन के व्यवहार से कोई सम्बन्ध नही दिखायी देता। पहले प्रकार के गुणो मे रग का परिवर्तन है, जो गोरे लोगो के चमडे मे गर्म देश मे रहने से हो जाता है। लम्बे अभ्यास से गायन मे निपुणता भी इसी का उदाहरण है। ऐसे गुणो को 'प्राप्त गुण' कहते हैं। दूसरी श्रेणी में वह गुण आते है, जो जीवाणु के साथ ही व्यक्ति को मिल जाते है। इन्हे 'अप्राप्त' या 'मौलिक गुण' कहते है। प्राण-विद्या की वर्तमान धारणा यह है कि जिन गुणो को व्यक्ति अपने जीवन के व्यापार मे प्राप्त करता है, वे परम्परा के रूप में एक पीढी से दूसरी पीढी को नही पहुंचते; मौलिक गुण पहुंच

जाते हैं। डार्विन के ध्यान मे 'प्राप्त गुण' थे। इनके बचे रहने के विरुद्ध जिन लोगों ने प्रचार किया, उनमे विइजमैन का नाम प्रमुख है।

५. प्राकृत चुनाव

अब हम डार्विन के सिद्धान्त की प्रमुख धारणा की ओर आते हैं। सृष्टि में, सभी खाना मागने वालों के लिए पर्याप्त खुराक मौजूद नही। जीवित रहने की इच्छा प्राणी के स्वभाव मे ही है। इस इच्छा को पूरा करने के लिए, सारे प्राणी यत्न करते है। यह यत्न संग्राम का रूप धारण करता है। इसी को 'जीवन-संग्राम' कहते हैं। यह संग्राम प्रत्येक के लिए, मूलार्थ में, जीवन और मृत्यु का प्रश्न होता है। एक लेखक के शब्दों मे, 'प्रत्येक मुख एक बध-स्थान है, और प्रत्येक मेदा एक कब्र है।' जीवन-संग्राम मे कुछ प्राणी बच रहते हैं; बहुतेरे गिर जाते हैं। सफलता किसी को मिलती है; असफलता अधिक संख्या का भाग्य होती है। यह 'प्राकृत चुनाव' है। इस चुनाव मे, योग्यतम का बचाव होता है, अयोग्य मिट जाते हैं।

डार्विन ने जीवन-संग्राम मे व्यक्तियो के संग्राम पर बल दिया, परन्तु समूहो के सग्राम को भुला नही दिया। उसके कुछ अनुयायियों ने, जिनमे टामस हक्सले भी शामिल है, इस तथ्य को नही देखा, और समझ लिया कि डार्विन केवल व्यक्तियों के सग्राम की बाबत ही कहता है। व्यक्ति की हालत मे, संग्राम की नीव स्वार्थ पर होती है। सामूहिक संग्राम मे, प्रत्येक को अपना हित समूह के हित मे देखना होता है। यह त्याग या समूह-भक्ति है। वैयक्तिक संग्राम मे, बल और चतुराई मूल्यवान हैं, सामूहिक संग्राम में, समूह-भक्ति भी इनके साथ मिल जाती है।

व्यक्ति अपने आपको बचाना चाहता है; कुदरत जाति को बचाने की चिन्ता करती है। वृक्ष उगते है, और गिरते है; वन बचा रहना चाहिए। इस भेद को एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। एक वन मे दो प्रकार की गौएं रहती हैं। एक श्रेणी की गौओ मे अबल सन्तान के लिए अगाध प्रेम है, और वे सन्तान की रक्षा के लिए, अपनी जान की बाजी लगा देती हैं। दूसरी श्रेणी की गौओं की प्रकृति में यह स्नेह मौजूद नही। वन मे कुछ हिंसक पशु भी है, जो गौओं पर गुजारा करते हैं। पहली श्रेणी की गौएं मुकाबले में आप मर जाती है, परन्तु उनकी सन्तान बच रहती है; दूसरी श्रेणी की गौएं भाग कर अपनी जान बचा लेती है, परन्तु उनके बच्चे सब मारे जाते हैं। गौओं की इन दोनो श्रेणियो मे बचा रहने की अधिक योग्यता किस श्रेणी में है? नेचर की दृष्टि मे, स्वार्थ की अपेक्षा सन्तान-प्रेम अधिक मूल्यवान है।

६. लैंगिक चुनाव

यहां तक हमने प्राकृत चुनाव का सामान्य रूप मे वर्णन किया है। अनेक हालतो में, एक ही वस्तु में दोनों लिग विद्यमान होते हैं। जहा व्यक्तियों में लिग-भेद होता है, वहा एक नये प्रकार का चुनाव प्रकट हो जाता है। नरों मे मादा को प्राप्त करने के लिए मुकाबला होता है। जीतने वाले नर में कुछ गुण होते है, जो अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा उसे मादा की प्राप्ति में अधिक सहायता देते हैं। इस प्रकार के चुनाव को 'लैंगिक चुनाव' कहते है। डार्विन कहता है कि संसार में सौन्दर्य बडी मात्रा मे मौजूद है। इसका भाव लैंगिक चुनाव का फल है। 'लैंगिक चुनाव ने अति चमकीले रंग, सुहावने आकार और अन्य भूषण पक्षियों, तितलियों, और अन्य प्राणियो में नरों को और कही-कही दोनों लिगों को दिये है। पक्षियो की हालत मे इस चुनाव ने नर की ध्वनि को मादा के कानों के लिए संगीत बना दिया है। हरे पत्तों के मुकाबले मे, फल और फूल, अपने चमकीले रंगो के कारण, आकर्षक हो गये है, ताकि कीडे फूलो को देखे, उन पर आकर बैठें, और उनको उपजाऊ बना दें; साथ ही पक्षी उनके बीजों को फैला सके।'

यह कथन दिलचस्प है, परन्तु यह समझ मे नही आता कि डार्विन ने इसे कैसे लिख दिया। डार्विन तो सारे सजीव विकास को 'प्राकृत संग्राम' के नियम के नीचे लाना चाहता था। अचेतन फूल, निश्चित उद्देश्य से, अपने आपको आकर्षक कैसे बना सकते है? वह पक्षियों को, अपने बीज फैलाने के लिए, आवाहन कैसे कर सकते है? प्राकृत क्रिया निष्प्रयोजन होती है। यहा डार्विन कुदरती विकास मे 'प्रयोजनवाद' को ले आया है।

विकासवाद् (२)

पिछले अध्याय में हमने स्पेन्सर और डार्विन के विचारों का कुछ अध्ययन किया है। स्पेन्सर दार्शनिक था; डार्विन वैज्ञानिक था। अब हम फिर दार्शनिकों की ओर आते हैं।

१. हेर्नी बर्गसाँ

१. डार्विन और बर्गसाँ

डार्विन के दृष्टिकोण से बर्गसाँ (१८५९-१९४१) का दृष्टिकोण भिन्न था। डार्विन ने दो बातों पर विशेष बल दिया था :—

(१) प्राकृत विकास निरन्तर जारी रहता है, परन्तु इसकी गति बहुत धीमी है। 'नानात्व' पैदा करने में कुदरत बहुत उदारता से काम लेती है, परन्तु 'नवीनता' पैदा करने में बहुत कंजूस है।

(२) कुदरत इतने पदार्थों को पैदा कर देती है कि उनका पालन-पोषण भी नहीं कर सकती। इसके फल-स्वरूप जीवित पदार्थों में संग्राम होने लगता है।

बर्गसाँ ने जीवन और प्रकृति में भेद किया। उसके विचारानुसार, जहां प्रकृति की दुनिया में 'नूतनपन' का सर्वथा अभाव है, वहां जीवन में यह व्यापक है। प्राकृत पदार्थों में परिवर्तन का अर्थ इतना ही है कि परमाणु अपना स्थान बदल लेते हैं, और पहिले संयोग की जगह एक नया संयोग विद्यमान हो जाता है। स्वयं सत्ता में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। दूसरी ओर, कोई जीवित पदार्थ दो क्षणों के लिए भी एक अवस्था में नहीं रहता। जीवन अपने आपको लगातार नया बनाते रहने का नाम ही है।

डार्विन ने कहा था कि जीवन में संग्राम जारी है। बर्गसाँ ने कहा कि जीवन लड़ता तो है, परन्तु अपने साथ नहीं लड़ता; प्रकृति के साथ लड़ता है। प्रकृति का स्वभाव परिवर्तन के प्रतिकूल है। जब इसमें परिवर्तन होता है, तो किसी बाहर के दबाव के कारण होता है। ऐसी हालत में, यह शीघ्र से शीघ्र फिर स्थिरता को प्राप्त करना चाहती है। दूसरी ओर, जीवन की सारी क्रिया उसकी आन्तरिक शक्ति का

आविष्कार होती है। जीवन ऊपर उठना चाहता है; प्रकृति इसे नीचे खीचती है। जीवन-संग्राम मे प्रकृति को पूर्ण रूप से हरा नही सकता; तो भी अपनी यात्रा में आगे बढ़ता ही जाता है। उत्पादन करना जीवन का चिह्न है। इसलिए, बर्गसाँ ने अपने सिद्धान्त को 'उत्पादक विकासवाद' का नाम दिया।

उत्पादन का तत्व क्या है ?

डार्विन के मत मे जो कुछ अव्यक्त है, वही व्यक्त होता है; जो कुछ 'अन्त' में है, वह 'आरम्भ' मे भी मौजूद था। इसका अर्थ यह है कि सारा विकास वास्तव में आवृत्ति ही है। बर्गसाँ कहता है कि ऐसा परिवर्तन तो विकास कहलाने के योग्य ही नही। विकास मे आन्तरिक परिवर्तन या नवीनता की आवश्यकता है। इस ख्याल से बर्गसाँ ने 'यन्त्रवाद' का विरोध किया। इसी भाव से उसने उद्देश्यवाद या प्रयोजन-वाद का भी विरोध किया। यदि किसी चेतन-शक्ति ने पहले से ही, पूर्ण रूप में, सारी घटनाओ और उनके क्रम की बाबत निश्चय कर लिया है, तो कुछ करना-कराना तो सम्भव ही नही; आविष्कार को देखना ही सम्भव है। ऐसी स्थिति मे, जीवन-शक्ति का होना न होना एक ही है। 'निरपेक्ष उद्देश्यवाद' एक तरह से उलटा यन्त्र-वाद ही है; भेद केवल इतना है कि एक हालत में भूत वर्तमान को नियत करता है; दूसरी हालत मे, भविष्य इसे नियत करता है। दोनों हालतो मे नवीनता के लिए, जो जीवन का तत्व है, कोई स्थान नही।

२. सत्ता का स्वरूप

सत्ता की बाबत जानने के लिए हम बाहर या अन्दर देख सकते है। जब हम बाहर की ओर देखते है, तो हमारा ज्ञान अस्पष्ट ज्ञान होता है। हम अपने अनुभव की नींव पर, वाह्य पदार्थो की बाबत कुछ राय कायम करते है। जब कोई डाक्टर किसी रोगी की खोपड़ी को फोड़ कर, उसके मस्तिष्क की परीक्षा करता है, तो होता क्या है ? रोगी के मस्तिष्क से पलट कर प्रकाश की किरणे डाक्टर की आखो पर पडती हे, और वहा से उसके दिमाग मे पहुचती है। डाक्टर के दिमाग मे कुछ हलचल होती है, और इस पर उसे ज्ञान होता है। यदि उसने कुछ देखा है, तो रोगी के मस्तिष्क को नही, अपने मस्तिष्क को देखा है, और इससे रोगी के मस्तिष्क की बाबत अनुमान किया है।

जब हम अन्दर की ओर देखते है, तो द्रष्टा और दृष्टि के दर्मियान कोई पर्दा नही होता; द्रष्टा दृष्ट को साक्षात् देखता है।

इस भेद के कारण, बर्गसाँ कहता है कि सत्ता के स्वरूप को जानने के लिए हमें

अन्दर की ओर देखना चाहिए। जब हम अपनी दृष्टि को अन्दर की ओर फेरते है, तो क्या देखते है? एक प्रवाह है, जो कभी रुकता नही। मनोविज्ञान चेतना-अवस्थाओं की बाबत कहता है, और हमे ख्याल होता है कि ये अवस्थाए—क, ख, ग, घ... एक पक्ति के रूप मे है। उनमे से प्रत्येक अवस्था स्थायी स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, और इसके चल देने के पीछे दूसरी अवस्था का आगमन होता है। ये दोनो धारणाएं निर्मूल है। जिस चेतनाश को हम 'अवस्था' कहते है, वह भी वास्तव मे प्रवाह है; और यह चेतनाश एक दूसरे के बाहर नही, अपितु प्रवाह के भाग है, जो एक दूसरे मे प्रविष्ट है। बर्गसॉ के विचार मे सत्ता एक प्रवाह है, जिसकी गति कभी रुकती नही, जिसका कोई भाग अपने आपको दुहराता नही; जिसमें 'जीवन-शक्ति' प्रकृति पर 'नूतनता' का पैबन्द लगाने मे लगी है। भूमण्डल में पृथक पदार्थ कही नही; प्रवाह में, व्यवहार की सुविधा के लिए, बुद्धि विशेष अशो को पदार्थो या वस्तुओ का पद दे देती है। बर्गसॉ के सिद्धान्त को 'प्रवाहवाद' या 'परिवर्तनवाद' कहते है।

३. जीवन और चेतना

जीवन और चेतना के आपसी सम्बन्ध की बाबत बर्गसॉ का विचार बहुत स्पष्ट नही। वह प्रकृति और जीवन मे जाति-भेद करता है, परन्तु जीवन और चेतना मे ऐसा भेद नही करता। इसका अर्थ यह है कि जीवन और चेतना एक ही है, या हर कही ये दोनो एक साथ मिलते है। निश्चय से नही कह सकते कि इन दोनो मे बर्गसॉ का ख्याल क्या है। इन दोनों मे प्रमुख कौन है? बर्गसाँ प्रथम स्थान जीवन को देता है। जीवन अपने विकास मे बुद्धि का प्रयोग करता है। जीवन आगे बढ़ने में भूले भी करता है। एक बड़ी सड़क के मुकाबले मे जिस पर यात्रा जारी रहती है, अनेक अल्प मार्ग होते है जो बडी सडक से निकलते है, और थोडी दूर जाकर समाप्त हो जाते है।

४. विकास के प्रमुख मार्ग

चेतन प्राणियों मे चिर काल तक चेतना एकरूप रही। पीछे इसमें भेद हुआ और यह दो भिन्न रूपों मे व्यक्त हुई। इन दो रूपों को स्वाभाविक बुद्धि (इन्स्टिंक्ट) और विवेकी बुद्धि कह सकते है। कुछ जीवधारी एक बुद्धि मे बढने लगे, कुछ दूसरी मे। यों भी कह सकते है कि जिस मार्ग पर सब जीवधारी चलते आये थे, वह दो उप-भागो मे कट गया। एक पर पशु-पक्षी चलने लगे; दूसरे पर मनुष्य चलने लगे। कुछ लोग कहते है कि पशु-पक्षियों में स्वाभाविक बुद्धि काम करती है; मनुष्यों में

विवेचक बुद्धि काम करती है। यह ठीक नही। दो पृथक मार्गो पर चलने से पहिले दोनों वर्गो के जीवधारी एकरूप बुद्धि से ही काम लेते थे । अलग होने के बाद भी पशु-पक्षियों मे विवेचक बुद्धि का थोड़ा अंश मौजूद है, यद्यपि उनमे स्वाभाविक बुद्धि प्रमुख हो गयी है । दूसरी ओर विवेचन की वृद्धि ने मनुष्य को पाशव बुद्धि से वंचित नही कर दिया ।

बर्गसाँ कहता है कि जीवन के तत्व को समझने के लिए पशुओं का सहज ज्ञान मनुष्य की बुद्धि से अधिक सफल है । यह सुन कर साधारण मनुष्य चकित हो जाता है । बर्गसाँ की राय मे जीवन का सार क्रिया है, और पाशव-बुद्धि मानव बुद्धि से क्रिया के निकट है। सहज ज्ञान को ही नैसर्गिक उत्तेजन भी कह लेते हैं। पाशव-चेतना की त्रुटि यह है कि यह व्यवहार को प्रमुख रखती है,और इसलिए इसका दृष्टि-क्षेत्र बहुत सकुचित होता है । मानव बुद्धि का दृष्टि-क्षेत्र विस्तृत होता है, परन्तु यह समस्त वस्तु को नही देखती, उसके किसी एक पहलू को देखती है । विश्लेषण या पृथक्करण इसकी प्रिय रीति है। यह सत्ता को जान नही सकती; केवल उसके पहलुओ या पक्षो को जान सकती है ।

जिस कठिनाई की ओर बर्गसाँ सकेत कर रहा है, उसे एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। एक पुरुष पहली बार बडी नदी के किनारे आता है। नदी बाढ मे है। मंझधार पूरे वेग से बहती है, और उसमे भवर भी पड़ते हैं। किनारे पर बैठा मनुष्य बाढ के तत्व को नही जान सकता, वह लहरो के ऊपर-नीचे होने, भंवर के आकार और उसकी मात्रा को देखता है; परन्तु यह तो बाढ़ नही। वह नाव मे बैठता है, और मंझधार मे जा पहुंचता है। चप्पू चलाने में जो यत्न करना पड़ता है, वह उसे किनारे पर से देखने की अपेक्षा कुछ अच्छा ज्ञान देता है। परन्तु अभी भी यह ज्ञान अधूरा है। जब वह नदी मे कूद कर, बाढ के साथ ऊपर-नीचे होता है, चक्कर लगाता है, बाढ़ का भाग ही बन जाता है, तब उसे पता लगता है कि बाढ़ क्या है। सत्ता के स्वरूप को जानने के लिए, इसे दूर से देखना पर्याप्त नही; निकटस्थ सम्पर्क की आवश्यकता है। जीवन के सार का जीवन-विलीन होने से पता लगता है।

बर्गसाँ के अनुसार दोनो प्रकार की बुद्धि सत्ता का साक्षात्कार कराने में असमर्थ है। तो फिर क्या यह ज्ञान प्राप्त हो ही नही सकता ? बर्गसाँ इन दोनों बोधो से ऊंचा पद 'आत्म-ज्योति' (इन्ट्यूशन) को देता है। यह पाशव-बुद्धि की तरह विशेष वस्तुओं में उलझी नही रहती, न मानव बुद्धि की तरह, पृथक्करण मे लगी रहती है ।

भारत मे भी 'आत्म-ज्योति' को बहुत महत्व दिया गया है। योग की क्रियाओ का मुख्य उद्देश्य इस ज्योति को विकसित करना ही है ।

२. लायड मार्गन और चार्ल्स पीअर्स

क. प्रकटनात्मक विकास

उत्पादक विकास से मिलता-जुलता सिद्धान्त 'प्रकटनात्मक विकास' है। उत्पादक विकास जीवन-शक्ति की क्रिया का फल है। यह शक्ति निरन्तर क्रिया मे लगी रहती है, और नयी-नयी वस्तुओ को पैदा करती रहती है। प्रकटनात्मक विकास कारण-कार्य सम्बन्ध की बाबत नही कहता। यह इतना ही कहता है कि वस्तुतः नवीन अवस्थाएं, प्रक्रियाएं और वस्तुए प्रकट हो जाती है, जिनके आगमन की बाबत हम, पूर्व स्थिति को देख कर, निश्चय से कुछ कह नही सकते थे। इनका प्रकट होना वास्तव मे नूतनता का आविष्कार है।

लायड मार्गन और कुछ अन्य विचारको ने इस प्रकार के विकास पर पर्याप्त लिखा है। उनकी शिक्षा मे प्रमुख बात यह है कि जब कोई नयी अवस्था प्रकट होती है, तो पूर्व अवस्था समाप्त नही हो जाती; उसका अस्तित्व बना रहता है, और वह नवीन अवस्था मे मिल कर उसका अंश ही बन जाती है। प्रकृति विद्यमान थी। जब जीवन का आविर्भाव हुआ, तो प्रकृति का विनाश नही हो गया; निर्जीव प्रकृति सजीव प्रकृति बन गयी। इसी तरह, जब चेतना का आविर्भाव हुआ, तो सजीव प्रकृति (वनस्पति) का विनाश नही हो गया; यह चेतन बन गयी।

यह आविर्भाव कई रूप धारण करता है।

(१) एक परिवर्तन तो यह होता है कि नये गुण प्रकट हो जाते है। गुणियो मे भेद नही होता, परन्तु उनके मेल से ऐसे गुण प्रकट हो जाते है, जो मिलने वाले पदार्थो में विद्यमान न थे। ऐसे प्रकटन का एक अच्छा उदाहरण रासायनिक संयोग में मिलता है। हाइड्रोजन और आक्सिजन वायु-रूप है। जब विशेष मात्रा मे इन का रासायनिक संयोग होता है, तो परिणाम जल होता है, जिसमे दोनो अगभूत गैसों के गुण नहीं, अपितु नये गुण प्रकट हो गये है।

(२) एक अन्य परिवर्तन में, ऐसी वस्तुएं प्रकट हो जाती है, जिनके चिह्न उनके पूर्वजों के चिह्नों से भिन्न होते है। यह विचित्रता ही जातियों की उन्नति का बड़ा कारण होती है। डार्विन ने विकास का जो विवरण दिया, उसे विभिन्नता के आकस्मिक प्रकटन से आरम्भ किया।

(३) कभी-कभी किसी नवीन घटना या क्रम का आविष्कार होता है। जैसा हमने अभी देखा है, लायड मार्गन के विचारानुसार, जीवन और चेतना का आविष्कार इस तरह हुआ।

(४) कभी कभी ऐसा होता है कि नवीन गुण का आविष्कार तो नही होता; परन्तु किसी विद्यमान गुण की मात्रा इतनी बढ जाती है कि उसका कोई कारण दिखायी नही देता। एक देश में, किसी समय अपूर्व योग्यता के कवि, गायक, दार्शनिक उपज पड़ते है। कहते है इंग्लैण्ड मे एलिजेबेथ प्रथम का समय ऐसा विशेष काल था।

ख. नियमों का विकास

यहा तक हमने अवस्थाओ और वस्तुओ के आविष्कार का वर्णन किया है। विकासवाद वैज्ञानिकों का मत है। विज्ञान की नीव इस धारणा पर है कि संसार में जो कुछ हो रहा है, नियम अनुसार हो रहा है। जहा शेष सब कुछ परिवर्तनशील है, वहा 'नियम' स्थायी है; इनमे परिवर्तन नही होता। ये काल के प्रभाव से बचे हुए है। अमेरिका के दार्शनिक चार्ल्स पीअर्स ने इस दावे को स्वीकार नही किया। वह कहता है कि संसार मे केवल एक नियम ही असन्दिग्ध है, और वह विकास का नियम है। जिन नियमो को हम अचल और स्थिर कहते है, वह भी वास्तव मे विकास के शासन में हैं। नियमो की स्थिति आदतो की सी है। आदत शनैः शनैः बनती है। इसी तरह 'नियम' भी निश्चितता मे आगे बढते जाते है। किसी विशेष नियम को जितना व्यापक हम आज पाते है, उतना व्यापक वह भूत काल में न था; और भविष्य मे, आज से अधिक व्यापक होगा। भौतिक विद्या मे सबसे प्रमुख नियम आकर्षण का नियम है। आम ख्याल के अनुसार, संसार मे कोई प्राकृत पदार्थ, छोटा या बड़ा, निकट या दूर, ऐसा नही, जो इसके प्रभाव मे न हो। पीअर्स के विचार मे यह तथ्य नही। हम इतना ही कह सकते है कि यह नियम अन्य नियमो की तरह, अपना शासन-क्षेत्र विस्तृत करने मे लगा है। वर्तमान मे यह क्षेत्र, भूत की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, और भविष्य मे वर्तमान से अधिक विस्तृत होगा। व्यवस्था के साथ अव्यवस्था भी दिखायी देती है। पीअर्स के विचार मे अव्यवस्था आभास-मात्र नही; वास्तविक सत्ता है। इसका कारण यह है कि व्यवस्था पूर्ण रूप मे बन नही चुकी; बन रही है।

३. सांख्य का विकासवाद

१. सांख्य-साहित्य

कपिल मुनि साख्य-दर्शन का प्रवर्त्तक है। उसे 'आदि विद्वान्' भी कहा जाता है। सम्भवतः अभिप्राय यह है कि वह पहिला दर्शनकार है।

सांख्य-सिद्धान्त पर जो साहित्य इस समय मिलता है, उसमे तीन पुस्तकें प्रमुख हैं : 'तत्व-समास', 'साख्य-कारिका' और 'सांख्य-सूत्र'। इनमें 'तत्व-समास' को कपिल की रचना बताया जाता है। वास्तव में यह कोई पुस्तक नहीं; केवल एक विषय-सूची है। इसमे २० विषयों की गणना है। पहले ६ विषय, जिनसे वर्तमान अध्याय का विशेष सम्बन्ध है, ये हैं :—

(१) अ ब, इसलिए, तत्वो का समास (संक्षेप)
(२) आठ प्रकृतिया
(३) सोलह विकार
(४) पुरुष
(५) तीन गुणों वाला होना
(६) संचार और प्रति-संचार (सृष्टि और प्रलय)

'साख्य कारिका' वा 'साख्य सप्तति' ७० श्लोकों का संग्रह है, और ईश्वर कृष्ण को रचना है। इसे प्रचलित सूत्रों से पुराना समझा जाता है। हम इसे सांख्य-सिद्धांत का प्रामाणिक विवरण कह सकते है।

२: सांख्य का दृष्टि-कोण

जैसा हम देख चुके हैं, डेकार्ट ने पुरुष और प्रकृति मे भेद किया था। उसने इन दोनो मे कारण-कार्य सम्बन्ध को स्वीकार किया, परन्तु इनमे इतना भेद कर दिया कि वह इस सम्बन्ध को समझ न सका। उसके पीछे आने वाले दार्शनिकों में कई एक ने द्वैतवाद को छोड़ कर अद्वैतवाद की शरण ली। हर्बर्ट स्पेन्सर ने सारे विकास को प्रकृति का विकास समझा; हीगल ने इसे 'निरपेक्ष मन' के विकास के रूप में देखा। सांख्य में इन दृष्टि-कोणों के समन्वय का यत्न दिखायी देता है। सांख्य डेकार्ट के द्वैत को मानता है, परन्तु पुरुष और प्रकृति में कारण-कार्य सम्बन्ध को स्वीकार नही करता। इसके अनुसार इनका सम्बन्ध केवल 'संयोग' है। स्पेन्सर की तरह, सांख्य समझता है कि सारा विकास प्रकृति में होता है; परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि यह विकास पुरुष की दृष्टि मे ही हो सकता है। इस तरह यह वस्तुवाद और अध्यात्मवाद दोनों को मिला देता है। जहा स्पेन्सर और हीगल ने केवल एक तत्व से आरम्भ किया, वहा साख्य दो मूल तत्वों, पुरुष और प्रकृति, से आरम्भ करता है।

'प्रकृति' का अर्थ बदलने वाली वस्तु है। परिवर्तन होने पर जो रूप यह धारण करती है, उमे 'विकृति' या 'विकार' कहते हैं। 'मूल प्रकृति' तो किसी अन्य प्रकृति का

विकार नही। इसके सात विकार होते है, जो अन्य विकारो को जन्म देते है। इस ख्याल से, उन्हे 'प्रकृति-विकृति' का नाम दिया जाता है। 'तत्व-समास' मे, मूल प्रकृति और इन सात को आठ 'प्रकृतिया' कहा गया है। इनके अतिरिक्त सोलह विकार ऐसे है, जिनसे आगे कुछ नही बनता। ये साख्य के २४ प्राकृत तत्व है; इनसे अलग पुरुष है, जो न प्रकृति है, और न विकृति है: यह न किसी से बनता है, और न इससे कुछ बनता है। 'तत्व-समास' के विषय २, ३, ४ में इन २५ तत्वों का वर्णन है।

पाचवा विषय प्रकृति के तीन गुणो की ओर संकेत करता है, और छठा सृष्टि और प्रलय की बाबत कहता है। सृष्टि या संचार प्रकृति का विकास है : प्रलय इस विकास का समाप्त हो जाना है। विकास का अर्थ ही यह है कि जो कुछ गुप्त था, वह प्रकट हो जाता है; जो अव्यक्त था, वह व्यक्त हो जाता है। मूल प्रकृति को 'अव्यक्त' भी कहते हैं।

३. विकास का रूप

व्यक्त को हम देखते है, अव्यक्त को देख नही सकते। हम व्यक्त से अव्यक्त का अनुमान करते है। इसलिए, साख्य मे, व्यक्त (दृष्ट जगत) को लिग या चिह्न कहा है। अव्यक्त व्यक्त का कारण या आश्रय है। व्यक्त अनेक भागों मे दिखायी देता है। इसका हर एक भाग मिश्रित है, और 'देश' और 'काल' से बंधा है; कोई भाग नित्य नहीं, और कोई भाग व्यापी नही। व्यक्त मे क्रिया और परिवर्तन विद्यमान है।

कारिका १० मे, व्यक्त और अव्यक्त के इन भेदो को बताते हुए कहा है :—

'व्यक्त कारणवाला, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक, आश्रित, चिह्न, मिश्रित और परतन्त्र है। अव्यक्त इसके विपरीत है।'

विकास में जो परिवर्तन होता है, उसका जो विवरण स्पेन्सर ने दिया है, वह सांख्य के विवरण से बहुत मिलता है।

ऊपर कहा गया है कि प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि पडने पर आरम्भ होता है। पुरुष की दृष्टि आवश्यक है, परन्तु स्वयं प्रकृति मे भी, ऐसी स्थिति मे, विकसित होने की क्षमता होनी चाहिए। चुम्बक लोहे को अपनी ओर खीचता है, क्योकि लोहे को खीचे जाने पर कोई आपत्ति नही होती। प्रकृति में विकसित होने की व्यवस्था मौजूद है। मूल प्रकृति या अव्यक्त में तीन गुण—सत्व, रजस, और तमस विद्यमान है। जब तक इनका सामंजस्य बना रहता है, अव्यक्त दशा बनी

रहती है, जब पुरुष की दृष्टि पडने पर, यह सामंजस्य टूट जाता है, विकास होने लगता है। ये तीन गुण कभी एक दूसरे का साथ नही छोडते; एक दूसरे को दबाते भी हैं, और व्यक्त भी करते हे। सत्व का तत्व प्रकाश है; रजस का तत्व क्रिया है; तमस का तत्व निश्चलता या क्रिया मे रोक डालना है। तीनो गुण रहते एक साथ हैं, परन्तु इनकी शक्ति, एक दूसरे की अपेक्षा, बढती-घटती रहती है। सारा विकास इसी भेद का फल है।

४. विकास-क्रम

'तत्व-समास' मे आठ प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। इनमे एक मूल प्रकृति है, जिसमे विकास का आरम्भ होता है। पहला प्रकटन सत्व-गुण की प्रधानता का फल है। इसे महत् या महत्तत्व कहते हैं। इसी का नाम बुद्धि भी है। इसके बाद रजस के प्रभाव मे 'अहकार' प्रकट होता है। अहंकार अभिमान या अहम्मति है। महत् मे बोध तो होता है, परन्तु इस बोध मे, 'मैं' का ख्याल सम्मिलित नही होता। अहकार मे यह सम्मिलित होता है, और ज्ञान को आत्म-ज्ञान मे बदल देता है।

हम यहा किसी मनुष्य की बुद्धि या अहंकार का वर्णन नही कर रहे है, विश्व के आरम्भिक परिवर्तनो का बयान कर रहे है। अहकार रजस प्रधान है ही; आगे परिवर्तन में यह प्रमुख भाग लेता है। सत्व के योग मे, यह इन्द्रियो को जन्म देता है, और तमस के योग मे पच तन्मात्रो को उत्पन्न करता है। इन्द्रिया ११ हैं; पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया और ग्यारहवा मन। मन का काम दोनो प्रकार की इन्द्रियो का एकीकरण है; इसलिए, जहा उन इन्द्रियो को वाह्य-करण कहते है, मन को अतःकरण का नाम दिया जाता है। दूसरी ओर, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाच तन्मात्र प्रकट हुए। ११ इन्द्रिया तो निरी विकृतिया थी, इनसे आगे कुछ उत्पन्न नही हुआ। पांच तन्मात्रों य से थाक्रम आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—पाच स्थूल भूत उत्पन्न हुए।

यह सारा विवरण, साख्य सूत्र ६१ मे, इन शब्दो मे दिया है—'सत्व, रजस, तमस—इन तीनो गुणो की सम अवस्था को प्रकृति कहते है। प्रकृति से महान, महान से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र और दोनो प्रकार की इन्द्रियां, और तन्मात्रो से स्थूल भूत उत्पन्न हुए। इनके अतिरिक्त पुरुष है।'

यह २५ तत्वो का समुदाय है।

हम इसे निम्न रूप मे देख सकते है :—

पुरुष——————————————प्रकृति
|
महत्तत्व
|
अहंकार
|
दस इन्द्रिया और मन | पचतन्मात्र
|
पंचमहाभूत

५. विकास का प्रयोजन

विकास निरा परिवर्तन नही; निश्चित क्रम मे होने वाला परिवर्तन है। विकास-वादी उस नियम की खोज करते है, जिसके अधीन विकास हो रहा है; नियम के अस्तित्व की बाबत तो उन्हे सन्देह नही होता। स्पेन्सर की हालत मे यह स्पष्ट ही है। कुछ विचारक पीछे की ओर नही, अपितु आगे की ओर देखते है। उनके विचार में, किसी क्रम को समझने के लिए उसके आरम्भ की ओर नही, अपितु उसके अन्त की ओर देखना चाहिए। जब हम किसी यात्री से मिलते है, तो उससे यही पूछते है, 'कहां जा रहे हो?' दृष्टिकोण का यह भेद विकासवाद को 'लौकिक विकासवाद' और 'लोकान्तरिक विकासवाद', दो भिन्न रूपों में प्रस्तुत करता है। स्पेन्सर लौकिक विकासवाद का समर्थक था; हीगल ने लोकान्तरिक विकासवाद का समर्थन किया। यहा फिर साख्य-विचार इन दोनो मतो के समन्वय का यत्न है। साख्य के अनुसार सृष्टि या विकास एक विशेष प्रयोजन के लिए है; परन्तु अचेतन प्रकृति को इस प्रयो-जन का कोई ज्ञान नही। यह साख्य का 'अबोध प्रयोजनवाद' है।

प्राकृत विकास का प्रयोजन पुरुष को बन्ध से मुक्त करना है। वह इस बन्ध मे फँसता कैसे है?

हम कह चुके है कि पुरुष और प्रकृति मे कारण-कार्य का सम्बन्ध नही, केवल सयोग है। इस संयोग मे, पुरुष की दृष्टि प्रकृति पर पड़ती है, और उसका विकास या संचार होने लगता है। पुरुष पर इस सयोग का असर क्या होता है? हम इसे एक दृष्टान्त से समझ सकते है।

बाजार मे एक दुकान पर बड़ा शीशा लटका है। जो लोग बाजार मे गुजरते है, उनका बिम्ब शीशे मे पडता है। बहुतेरे लोग चुपचाप गुजर जाते है; कुछ लड़ते झगड़ते, रोते-चिल्लाते, हँसते-खेलते जाते है। इनके बिम्ब भी शीशे मे पडते है।

कल्पना करे कि शीशा चेतन है, और भ्रम मे समझता है कि ये बिम्ब उसकी आन्तरिक अवस्थाए हैं। वह हर्ष, शोक, मोह मे फस जाता है क्योंकि अज्ञान में वह बाहर और अन्दर मे भेद नही करता। यही हाल पुरुष का है। वह वास्तव में तो द्रष्टा ही है, परन्तु भ्रम मे अपने आपको संसार के झमेलो मे उलझा समझता है। प्रकृति का विकास नाटक के खेल की तरह है। जब तक नाटक देखने वाला नटो और नटियो को उनके वास्तविक रूप मे नही देखता, वह उनके बनावटी हर्ष-शोक को असली समझ कर, उनके साथ हर्ष-शोक करता है। वास्तविक स्थिति को समझने पर, उस का हर्ष-शोक समाप्त हो जाता है। प्रकृति अपने विकास-रूपी नाच मे, अपने आपको पुरुष पर प्रकट करती है, और पुरुष के अज्ञान को दूर करके, उसे बन्ध से मुक्त करा देती है।

परन्तु प्रकृति तो जड़ है। साख्य 'अचेतन प्रयोजन' को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टान्त देता है। गौ बछडे को जन्म देती है। उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिए, गौ के शरीर मे दूध पैदा होता है, और गौ के स्तनो मे पहुंच जाता है। जिन अंगो मे यह होता है, उन्हें इसका कुछ ज्ञान नही होता। यह सब होता प्रयोजन के अर्थ है, परन्तु इस प्रयोजन का ज्ञान गौ को नही। इसी प्रकार का व्यवहार प्रकृति मे होता है। कारिका ६० मे, कविता की भाषा मे, कहा है :—

'नाना प्रकार के उपायों से, उपकारिणी गुणवती प्रकृति अनुपकारी गुणहीन पुरुष के लिए, निःस्वार्थ काम करती है।'

चतुर्थ भाग

आत्म-मीमांसा

अनुभव का सामान्य विवरण

१. मनोविज्ञान के दो रूप

श्री राम विश्वामित्र की कुटिया पर पहुंचे। कुटिया का द्वार बन्द था। श्री राम ने द्वार खटखटाया। अन्दर से आवाज आयी : 'कौन द्वार खटखटा रहा है ?' श्रीराम ने कहा—'भगवन् ! यही पूछने आया हूं। द्वार खटखटाने वाला, या कोई अन्य क्रिया करने वाला, कौन है ?'

सुकरात अपने शिष्यो से कहता था—'अपने आपको पहचानो।' साधारण मनुष्य को न राम के प्रश्न मे, और न सुकरात के आदेश मे बहुत सार दिखायी देता है : हम सब अपने आपको जानते ही हैं। जो कुछ अन्य पुरुषो की बाबत जानते हैं, वह भी आत्म-ज्ञान के आधार पर ही जानते हैं। विज्ञान तो अपरिचित तथ्यो को परिचित बनाने का यत्न करता है; तत्व-ज्ञान परिचित तथ्यो को अपरिचित बनाता प्रतीत होता है। जहा सब कुछ स्पष्ट है, वहां भी यह जटिल समस्या खडी कर देता है। यह विचार साधारण पुरुषो को तत्व-ज्ञान के अध्ययन से दूर रखता है।

तत्व-ज्ञान का प्रमुख काम अनुभव का समाधान है। इस समाधान के सम्बन्ध मे दो प्रश्न विशेष महत्व के हैं :—

(१) क्या इस समाधान मे अनुभव से परे जाने की आवश्यकता है ? या हम अनुभव को ही अन्तिम तथ्य समझ कर, विषय को यही छोड सकते हैं ?

(२) यदि अनुभव के समाधान के लिए, अनुभव से परे किसी तत्व का मानना आवश्यक है, तो उस तत्व का स्वरूप क्या है ?

'यदि अनुभव आप ही अपना समाधान है, तो हमारा सारा काम अनुभव को यथार्थ समझना है।' यह मनोविज्ञान का काम है। इस हालत में ज्ञान मनोविज्ञान ही है। और यदि अनुभव के समाधान के लिए, उसके आधार, अनुभव करने वाले की भी आवश्यकता है, तो मनोविज्ञान ही सारा ज्ञान नही। ज्ञान के अतिरिक्त

और इससे अधिक महत्व का विषय ज्ञाता का स्वरूप है। प्राचीन काल मे यही ख्याल प्रचलित था।

मनोविज्ञान के दो रूप है :—

(१) अनुभव का अध्ययन। इसे 'अनुभवात्मक मनोविज्ञान' कहते है।

(२) अनुभव करने वाले का अध्ययन। इसे 'विवेकात्मक मनोविज्ञान' कहते हैं।

नवीन काल मे पहला रूप ही मान्य हो गया है। यहा हमारा सम्बन्ध प्रायः विवेकात्मक मनोविज्ञान से है। ऐसा होने पर भी उचित यही है कि हम संक्षेप से अनुभव की बाबत भी कुछ विचार कर ले। यह विचार अनुभव करने वाले की बाबत समझने मे सहायक होगा।

२. अनुभव-अध्ययन की विधि

अनुभव को समझने के लिए स्पष्ट साधन तो यही है कि हम अपने ध्यान को अन्दर की ओर फेरे। इस क्रिया को 'अन्तरावलोचन' कहते है। इस क्रिया की एक बडी सुविधा यह है कि प्रत्येक मनुष्य जहा कही भी वह हो, जिस अवस्था मे हो, अपनी दृष्टि को अपने अन्दर की ओर फेर सकता है, और देख सकता है कि वहा क्या हो रहा है। इस परीक्षण की योग्यता सब मनुष्यों मे एक जैसी नही होती; तो भी कोई मनुष्य इससे सर्वथा वंचित नही होता। और जो कुछ वह आप साक्षात देख सकता है, उसे अन्य कोई देख नही सकता। मै अपनी चेतना-अवस्थाओ को साक्षात देखता हूं; कोई दूसरा मेरे चेहरे की हालत या मेरी क्रिया से इसका अनुमान कर सकता है। इस पर भी, अन्तरावलोचन मे कुछ त्रुटिया है, जिनकी ओर हम उदासीन नही हो सकते।

(१) कुछ लोग तो कहते है कि अन्तरावलोचन सम्भव ही नही। जैसे ही हम किसी अवस्था को ध्यान का विषय बनाते है, वह अवस्था तो भूतकाल का भाग बन जाती है, और उसका स्थान हमारा परीक्षण ले लेता है। हम जिसे अन्तरावलोचन कहते है, वह वास्तव मे 'पश्चाद्दर्शन' है। यह स्मृति है, और हम निश्चय से नही कह सकते कि इस स्मृति मे भूल का अंश दाखिल नही हो गया है।

(२) यदि हम किसी अवस्था को उसकी उपस्थिति मे देख भी सकें, तो इस क्रिया से ही, उसका रूप-रग कुछ बदल जाता है। मै क्रोध में हूं। क्रोध का परीक्षण करने लगता हूं। ऐसा करते ही, क्रोध अपनी विशुद्ध अवस्था में कहा रहता है ? उद्वेग और उसकी जाच एक साथ विद्यमान नही हो सकते।

(३) अन्तरावलोचन मे तीसरी त्रुटि यह है कि यह अवलोचन करने वाला एक व्यक्ति ही होता है; और सम्भव है कि जो कुछ वह देखता है, वह उसकी बाबत तो सत्य हो, परन्तु सामान्य रूप मे सत्य न हो। प्रत्येक के जीवन मे कुछ अंश असामान्य या असाधारण भी होते है।

ये त्रुटिया सहयोग से दूर हो सकती है, और 'अन्तरावलोचन' और 'वाह्यावलोचन' के मेल से, अनुभव का यथार्थ ज्ञान सम्भव ही नही, सुगम हो जाता है। हम एक दूसरे के सम्पर्क मे आते है, और अनुभवो का अदल-बदल करते है। अफलातू ने अपने सवादो मे इस मेल के अच्छे दृष्टान्त प्रस्तुत किये है।

मानव-अनुभव के अनेक प्रकटन भी हमे हर ओर दिखायी देते है। सभ्यता के सारे अश इन प्रकटनो मे सम्मिलित है। कला, साहित्य, कविता, विज्ञान आदि का अध्ययन सब हमे मानव-अनुभव की बाबत बताते है।

३. अनुभव का सामान्य विवरण

जब हम अन्दर की ओर देखते है, तो हमें एक प्रवाह दिखायी देता है, जो कभी रुकता नही। जहा हम खड़े है, उसे वर्तमान का नाम देते है, यह एक क्षणमात्र है। इसके एक ओर असीम काल है, जो बीत चुका है, दूसरी ओर असीम काल है, जो अभी आने को है। 'जहा हम खड़े है।' खड़े होने का तो अवसर ही नही; अस्थिरता चेतना-प्रवाह का तत्व है। 'जहा' शब्द स्थान का प्रतीक है। 'काल' के साथ ही हम 'देश' का चिन्तन करते है। 'काल' क्षणो का प्रवाह है; 'देश' बिन्दुओ का विस्तार है। 'काल' के कोई दो क्षण एक साथ विद्यमान नही हो सकते, आगे-पीछे का भेद इनका अनिवार्य चिह्न है। 'देश' के भाग एक साथ ही होते है, उनमे पहले-पीछे का भेद नही होता। हमारे अनुभव का प्रत्येक अंश देश और काल के साथ सम्बद्ध होता है। जो कुछ भी होता है, किसी स्थान पर, और किसी समय में होता है।

प्रत्येक अनुभव मे हम एक और चिह्न देखते है : यह 'विषय' की ओर संकेत है। चेतना मे हम चेतन और चेत्य का भेद करते है। चेतन और चेत्य का सम्बन्ध तीन रूप धारण कर सकता है :—

(१) सम्पर्क मात्र

(२) चेतन प्रभाव डालता है, और चेत्य प्रभाव ग्रहण करता है।

(३) चेत्य प्रभाव डालता है, और चेतन प्रभाव ग्रहण करता है।

इन तीनों अवस्थाओं को 'बोध', 'क्रिया', और 'अनुभूति' या 'संवेदन' कहते है।

बोध : चेतन । चेत्य
क्रिया . चेतन । चेत्य
अनुभूति : चेतन । चेत्य

मेज पर मक्खी बैठी है। मै इसे देखता हू। यह सम्पर्क मेरा बोध है। मै हाथ हिला कर उसे उड़ा देता हू। मक्खी की स्थिति में परिवर्तन हुआ है; यह मेरी क्रिया है। यदि जन्तु मक्खी नही, बिच्छू होता, तो मै इसे देखते ही कुछ अशान्त हो जाता। यह संवेदन है।

तथ्य यह है कि प्रत्येक चेतना में ये तीनो पक्ष विद्यमान होते है। ये चेतना के भाग नही; जुदा न होने वाले पहलू है। इनका प्रभुत्व एक दूसरे की अपेक्षा बढ़ता-घटता रहता है, और इसी भेद के आधार पर, हम चेतना-अवस्थाओ को ज्ञान-क्रिया अनुभूति का नाम देते है।

पश्चिम मे काट से पहले, ज्ञान और क्रिया को ही स्वतन्त्र पक्षो का पद दिया जाता था; सुख-दु.ख का अस्तित्व तो माना जाता था, परन्तु इनकी स्थिति ज्ञान और क्रिया के विशेषण की समझी जाती थी। काट ने अनुभूति को भी, ज्ञान और क्रिया की भाति, चेतना का स्वतन्त्र पक्ष बताया; और अब यह स्वीकृत मत है।

भारत मे, चेतना के विश्लेषण को इससे भी आगे ले गये है, और यह दो बातो मे :—

(१) क्रिया, अपने दृष्ट रूप मे, शरीर के किसी अग का हिलाना-डुलाना है। इसके फलस्वरूप ही हम किसी अन्य पदार्थ की अवस्था को बदल सकते है। हमारे शरीर की क्रिया आन्तरिक उत्तेजन का परिणाम होतो है। ये उत्तेजन भावात्मक या निषेधात्मक होता है। इन दोनो रूपो को इच्छा और द्वेष का नाम दिया जाता है।

(२) पश्चिम मे दु:ख और सुख दोनो को सवेदन के अन्तर्गत रखा गया है। इन दोनो के आपस के सम्बन्ध की बाबत मतभेद है। कुछ लोग कहते है कि सुख वास्तविक सत्ता है; दु:ख सुख की कमी या इसके अभाव का नाम है, इसके विपरीत कुछ अन्य लोग कहते है कि दु.ख की सत्ता मे तो सन्देह हो ही नही सकता। जब कभी इसमें कुछ कमी होती है, तो हम इसे सुख समझ लेते है। आम विचार के अनुसार, सुख और दुख दोनो वास्तविक सत्ता है; और इनका भेद इतना मौलिक है कि इन्हें स्वतन्त्र पक्ष समझना ही उचित है।

'न्याय दर्शन' में, ऊपर की दोनों बातो को ध्यान मे रखते हुए, अनुभव में छ: निम्न पक्षों का वर्णन किया है :—

इच्छा, द्वेष,
प्रयत्न,
सुख, दु.ख,
ज्ञान।
इन्हे आत्मा के 'लिग' कहा गया है।

४. पक्षों में प्रमुख-अप्रमुख का भेद

ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक चेतनाश मे बोध, सवेदन, और क्रिया तीनो विद्यमान होते है, परन्तु उनकी तीव्रता एक जैसी नही होती। जब मै कोई साधारण पुस्तक पढता हूं, तो मै अन्य वस्तुओ की अपेक्षा उसकी ओर ध्यान देता हूं। पुस्तक का पाठ मुझे कुछ तृप्त भी करता है, परन्तु मेरी अवस्था मे ज्ञान प्रधान होता है। जब मै किसी कठिन समस्या के हल की खोज करता हू, तो क्रिया प्रधान होती है। जब चित्र देखता हूं, या राग सुनता हूं, तो अनुभूति प्रमुख होती है। यह भेद बहुतेरी हालतो में, समस्त जीवन के सम्बन्ध मे भी दिखायी देता है। वैज्ञानिक और दार्शनिक का जीवन ज्ञान-प्रधान जीवन होता है. कलाकार के जीवन मे भाव प्रधान होता है; योधा, इजिनियर, और शासक के जीवन मे क्रिया प्रधान होती है। कुछ विचारक एक पक्ष को, कुछ दूसरे पक्ष को आत्मा का तत्व बताते है। इन विचारो की ओर तनिक ध्यान दे।

१. आत्मा और अनुभूति

कुछ विचारक कहते है कि तीनो पक्षो मे अनुभूति मौलिक है, क्रिया और ज्ञान निश्चित होते है, उनकी सीमा स्पष्ट होती है। अनुभूति मे इस प्रकार की निश्चितता और सीमा की स्पष्टता नही होती। विकास मे भी ज्ञान और क्रिया से अनुभूति पहिले ही प्रकट होती है। बच्चा वातावरण की बाबत जानने और क्रिया करने से पहिले ही सुख-दुःख को अनुभव करता है।

अनुभूति विशेष रूप में, मनुष्य का व्यक्तिगत चिह्न है। कुछ लोग कहते है कि विश्व की शक्ति अपना स्थान बदलती रहती है। जब यह मेरे शरीर में से होकर गुजरती है, तो मै, भ्रम मे, इसे अपनी क्रिया समझ लेता हूं। इसी तरह कुछ लोगों का ख्याल है कि विश्व में बोध बिखरा पडा है। इसका कुछ भाग हमारे शरीर में भी प्रकट होता है, हम इसे अपना ज्ञान समझ लेते है। यह विचार ठीक हो, या न हो, इस सम्भावना को तो स्वीकार किया जाता है कि विश्व ही व्यक्ति मे चिन्तन

करता, और क्रिया करता है। अनुभूति के सम्बन्ध में ऐसा विचार नही होता। हर एक मनुष्य समझता है कि जब वह भयभीत होता है, तो यह अवस्था उसकी ही है, किसी अन्य मनुष्य की नही।

जब हम किसी मनुष्य की बाबत जानना चाहते हैं, तो वास्तव मे यही जानना चाहते है कि उसके स्थायी अनुराग क्या है? उसकी भावनाएं क्या है? अनुराग और भावना ही मनुष्य की क्रिया को निश्चित करते है। इनका सम्बन्ध संवेदन से है।

२. परमात्मा और क्रिया

इस विचार के विपरीत, कुछ लोग क्रिया को आत्मा का तत्व बताते है। वे कहते है कि आत्मिक जीवन एक प्रवाह या निरन्तर गति है। अनुभूति का काम गति को आरम्भ करना है; ज्ञान का काम मार्ग दिखाना है। इन दोनों की स्थिति सहायक की स्थिति है। संकल्प आत्मा का तत्व है।

इस विचार को नवीन काल मे जर्मनी के दार्शनिको, शापनहावर और नीप्तो, ने बल से प्रस्तुत किया है। शापनहावर के विचार मे विश्व शक्ति का खेल है। जब यह शक्ति चेतना से मिलती है, तो यह संकल्प का रूप धारण करती है, प्रत्येक प्राणी शक्ति को सुरक्षित रखने और उसे बढाने का यत्न करता है। ऐसा करना बेसमझी है, परन्तु शक्ति समझ की परवाह नही करती।

कुछ लोगो के विचार मे, मानसिक जीवन मे मौलिक चिह्न प्रयोजन है। हम जगत मे तीन प्रकार की वस्तुए देखते हैं :—

(१) अजीव वस्तुए,
(२) सजीव वस्तुएं,
(३) चेतन प्राणी।

अजीव वस्तुओं की हालत मे हम यही देखते है कि एक घटना के बाद दूसरी घटना होती है। यदि शेष स्थिति पूर्ण रूप में वैसी ही हो, तो यह क्रम स्थायी होता है। सजीव वस्तुओं की हालत में, परिवर्तन एक विशेष दिशा में होता है। एसा प्रतीत होता है कि कोई निश्चित उद्देश्य पूरा हो रहा है, यद्यपि प्राणी को इसका ज्ञान नही होता। मनुष्यो की हालत में, हम क्रिया को अपने असली रूप में देखते हैं। यहां प्रयत्न उद्देश्य की पूर्ति के लिए होता है। जो बात मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करती है, वह चेतन चुनाव की योग्यता है; और यह चुनाव संकल्प का काम है। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व का सार उसकी भावनाओं में नही, अपितु उसके चरित्र या आचार में निहित है। चरित्र निश्चित संकल्प का फल है।

दार्शनिक स्तर पर, काट ने कहा है कि 'विशुद्ध बुद्धि' प्रकटनो की दुनिया से परे नही जाती; और प्रकटनों की दुनिया मे नियम का शासन है। विशुद्ध बुद्धि स्वाधीनता की सम्भावना से इन्कार नही करती; परन्तु इसके पक्ष मे कोई हेतु भी नही दे सकती। स्वाधीनता का निश्चय हमें 'व्यावहारिक बुद्धि' से होता है। व्यावहारिक बुद्धि सकल्प का ही दूसरा नाम है।

दार्शनिको की अधिक सख्या सवेदन और सकल्प की अपेक्षा, ज्ञान को अधिक महत्व देती है। अनुभूति की बाबत काट से पहले ख्याल था कि यह ज्ञान और क्रिया का लिग या लक्षण है। अब भी कुछ मनोवैज्ञानिक कहते है कि उद्वेग शरीर की कुछ हरकतो का बोध ही है। विलियम जेम्स कहता है कि, साधारण मनुष्य के विचार मे, हम रीछ को देखते है, भयभीत होते है, कापने लगते है, और भागते है, तथ्य यह है कि रीछ को देखने पर, हम कापते है, और भागने लगते है। शरीर के इन परिवर्तनों का ज्ञान ही भय है। इस तरह, जेम्स उद्वेग को शारीरिक संवेदन के रूप मे ही देखता है। सकल्प के साथ भी अनुभूति का सा ही सलूक होता है। हम समझते है कि अनेक स्थितियो मे हम प्रयत्न करते है, और प्रयत्न सकल्प का असन्दिग्ध प्रमाण है। आंधी आती है; कमरे के द्वार खुल जाते है। हम उन्हे बन्द करना चाहते है, परन्तु अन्दर की ओर कोई कुंडी नही। हम अपनी सारी शक्ति से द्वार को बन्द रखने का यत्न करते है। यह यत्न हमारे पट्ठो मे, सांस मे, शरीर की स्थिति मे प्रकट होता है। कुछ मनोवैज्ञानिक कहते है कि इन परिवर्तनो का बोध ही प्रयत्न समझा जाता है।

ये तीनो विचार एक पक्ष को इतना महत्व देते है कि अन्य पक्षो के अस्तित्व को भूल ही जाते है। तथ्य यह है कि अनुभव मे भाव, क्रिया, और ज्ञान तीनो विद्यमान है। उनका बल एक दूसरे की अपेक्षा बढता-घटता रहता है, परन्तु किसी अवस्था में भी किसी पक्ष का अभाव नही होता। प्रत्येक रेखा में मात्रा और दिशा अनिवार्य रूप से विद्यमान होती है। मात्रा न रहे, तो दिशा भी नही रहती, दिशा न रहे, तो मात्रा भी नही रहती। इसी तरह, प्रत्येक अनुभव में तीनो पक्ष एक साथ रहते है। ये अनुभव के भाग नही, पृथक न होने वाले पक्ष है।

५. चेतना से नीचे

साधारण बोलचाल मे हम मन और चेतना को एक ही विस्तार या क्षेत्र देते है। जहां चेतना है, वहा मन है; जहा चेतना नही, वहा मन भी नही। नवीन मनोविज्ञान इन दोनों मे भेद करता है। मै इस समय एक विशेष विषय पर लिख रहा हूं। यह विषय मेरी चेतना मे है। यदि कोई मुझसे पूछे कि भारत का प्रधान कौन है, तो मै

उसे बता सकता हू। मै प्रश्न पूछे जाने के पहिले प्रधान के नाम का ध्यान नही कर रहा था, परन्तु बिना यत्न के इसे बता सकता हूं। यह नाम और अगणित और नाम मेरी स्मृति मे है। मेरे ज्ञान का बडा भाग भी इसी तरह मेरे मन में विद्यमान है। कुछ बाते ऐसी भी है, जो मेरे ज्ञान मे थी, परन्तु अब बिना यत्न के याद नही होती। कुछ यत्न करने पर भी याद नही आती, और कभी अकस्मात ही चेतना मे आ पहुंचती है। मन चेतना से परे भी है। मन के अचेत भाग में, कुछ अनुभव चेतना की देहली के नीचे ही मौजूद रहते है; कुछ मन की गहराई में दबे से होते है।

मन का क्षेत्र चेतना से परे भी है। इसका एक और उदाहरण सस्कारो मे मिलता है। जब किसी वस्तु पर बाहर से क्रिया होती है, तो यह उस वस्तु में कुछ स्थायी परिवर्तन कर देती है। जब कागज का एक टुकड़ा तह किया जाता है, तो उसकी स्थिति पहिली स्थिति नही रहती। मानव के तन्तु-जाल मे ऐसा परिवर्तन सबसे अधिक होता है। हमारा प्रत्येक अनुभव अपने पीछे संस्कार छोड जाता है। ये संस्कार अनुभव नही होते; अनुभवों का फल होते है, और नये अनुभवो के प्रस्तुत करने मे साधन भी बनते है। जिस बच्चे को बार-बार डराया जाय, वह कायर बन जाता है। भय एक अनुभव है, जो किसी विशेष काल मे व्यक्त होता है; कायरता ऐसा अनुभव नही; यह एक स्थायी प्रवृत्ति है। विशेष अनुभव चेतना का अश होते है; सस्कार मन के अचेत भाग मे विद्यमान है। लाइबनिज ने अचेत मानसिक अवस्थाओ के एक और रूप की ओर संकेत किया है। जब हम समुद्र के किनारे, उसकी लहरो की आवाज सुनते है, तो उस आवाज मे अगणित लहरो के उत्पन्न किये हुए शब्द सम्मिलित होते है। इन शब्दो को अलग-अलग हम सुन नही सकते, क्योकि यह अति धीमे होते है। लाइबनिज के विचारानुसार, ये अचेत शब्दाश भी मानसिक प्रवाह का भाग होते है।

अचेत मन ने, नवीन मनोविज्ञान मे, फ्राइड और उसके अनुयायियो की खोज के कारण विशेष महत्व प्राप्त कर लिया है। बर्फ का बड़ा कुदा समुद्र मे तैर रहा है। बर्फ पानी से हलकी होती है, इसलिए कुदे का कुछ भाग पानी के तल से ऊपर होता है। कुंदे का बड़ा भाग डूबा होता है, और दिखायी नही देता। इस पर भी कुदे की गति उसी भाग पर निर्भर होती है। फ्राइड के विचार में, मन की स्थिति भी ऐसी ही है, इसका अल्प भाग चेतन है; इस भाग के नीचे अचेत है, जिसकी बाबत चेतन भाग को ज्ञान नही होता। अचेत चेतन मन पर निरन्तर प्रभाव डालता रहता है, और जब अवसर पाता है, तो बदले हुए भेष मे चेतना मे व्यक्त भी हो जाता है। अचेत को कब्र मे दबा दिया गया है; परन्तु वह मरा नही, जीवित है।

'अचेत' बनता कैसे है?

चेतना की कुछ अवस्थाएं ऐसी होती है, जिन्हें समाज अश्लील समझता है, या जो प्रचलित मर्यादा के प्रतिकूल होती है। ये अवस्थाएं व्यक्ति के मन में व्यक्त होती हैं; परन्तु वह देखता है कि इन्हे न रोकना उसे समाज दृष्टि मे गिरा देता है। वह इन अवस्थाओ को दबा रखना चाहता है। उसका यत्न सफल होता है, और समय बीतने पर, उसे इनकी याद भी नही रहती। इनकी स्थिति उन बन्दियो सी होती है, जो कारागार से निकलना चाहते है, परन्तु पहरेदार की चौकसी से बच नही सकते। और कुछ न कर सकें, तो सचेत मन के लिए कंटक तो बन ही सकते हैं। सचेत मन पर उनका प्रभाव कई रूपों मे पडता है। बिना किसी ज्ञात कारण के, कभी-कभी मनुष्य के स्वभाव में असह्य चिडचिडापन प्रकट हो जाता है। साधारण अवस्था मे, 'अचेत' स्वप्न मे प्रकट होता है, या बोलचाल और लेख की भूलो मे व्यक्त होता है। मानसिक रोगो के निश्चय करने में, स्वप्न या ऐसी भूलो की जाच बहुत लाभदायक होती है।

नवीन मनोविज्ञान ने अनुभव के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया है, इसमें चेतन और अचेत दोनो प्रकार की अवस्थाएं सम्मिलित है।

आत्मा का स्वरूप-निरूपण (१)

१. अन्न और अन्नाद

'वृहदारण्यक' उपनिषद मे कहा है कि विश्व में जो कुछ भी है, अन्न है या अन्नाद (अन्न को खाने वाला) है। दार्शनिक परिभाषा मे, हम कह सकते है कि समस्त सत्ता भोक्ता और भोग्य, ज्ञाता और ज्ञेय, से बनी है। इन दोनो का सम्बन्ध भोग या ज्ञान है। इसी को अनुभव कहते है। इससे पहिले हम अन्न, भोग्य या ज्ञेय की बाबत कुछ विचार कर चुके है। पिछले अध्याय मे भोग या अनुभव हमारे अध्याय का विषय था, अब हम भोक्ता की ओर आते है।

जैसा हम देख चुके है, 'वैशेषिक' दर्शन दृष्ट जगत मे तीन 'पदार्थों' का वर्णन करता है—द्रव्य, गुण, और कर्म। अफलातू और अरस्तू ने भी परतम वर्गो की सूचियो मे द्रव्य को प्रथम स्थान दिया है। डेकार्ट ने द्रव्य मे चेतन और अचेतन, आत्मा और प्रकृति, का भेद किया। उसके पीछे स्पीनोजा और लाइबनिज ने अद्वैत को स्वीकार किया। स्पीनोजा ने अकेले द्रव्य मे गुणो के अस्तित्व को आवश्यक समझा; लाइबनिज ने अनेक द्रव्यो मे क्रिया को आवश्यक बताया। दार्शनिको मे बहुमत, 'वैशेषिक' के साथ, गुणो और क्रिया दोनो को द्रव्य के अनिवार्य चिह्न मानता है। 'बहुमत'—क्योकि कुछ विचारक सत्ता को केवल गुणों तक, और कुछ केवल क्रिया तक सीमित करते है। वर्तमान अध्याय में, हम उन विचारको की बाबत कहेगे, जो आत्मा को द्रव्य के रूप मे देखते है।

२. द्रव्य क्या है ?

साधारण बोलचाल मे हम द्रव्य को गुणों का सहारा या आलम्बन कहते है। इसका अर्थ यह है कि द्रव्य और गुण मे द्रव्य प्रमुख और गुण गौण है। कोई गुण अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही रखता; यह किसी द्रव्य या पदार्थ, मे उसके विशेषण के रूप मे ही विद्यमान होता है। प्रत्येक पदार्थ में अनेक गुण विद्यमान होते है। इनमे से कुछ अन्य

पदार्थों में भी पाये जाते हैं। इस समानता के आधार पर हम पदार्थों को श्रेणियो मे विभक्त करते हैं। प्रत्येक भेड़ में कुछ गुण ऐसे हैं, जो उसे भेड बनाते हैं, और गौओ और घोडो से पृथक करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो उसे अन्य भेडो से अलग करते हैं। जो गुण किसी पदार्थ मे पाये जाते हैं, उनमे कुछ परिवर्तन भी होता रहता है, परन्तु ऐसा होते हुए भी, उस पदार्थ का व्यक्तित्व बना रहता है। दृष्टान्त के लिए एक कुर्सी को ले। यह लकडी की बनी है। कही-कही लोहे की कील भी इसमें लगी है। इसके विभिन्न भागो मे एक अनुरूपता है। यह मेरे परि-माण के पुरुष के बैठने के लिए बनायी गयी है। वास्तव में जिन परमाणुओं से यह बनी है, वे दो क्षणो के लिए भी स्थायी नही रहते। कुर्सी पर मिट्टी पडती है, मक्खिया बैठती हैं; कुछ मरम्मत भी होती है। परन्तु हम यही कहते हैं कि कुर्सी वही है, जो पहिले थी। जब तक उसका प्रमुख भाग स्थिर रहता है, और भागो की अनुरूपता मे बहुत परिवर्तन नही होता, हम कुर्सी की एकता और उसकी निरन्तरता में सन्देह नही करते। दैनिक व्यवहार के लिए ऐसा करना अनुचित नही।

परन्तु तार्किक दृष्टि से देखे, तो कुर्सी मे न एकता है, न निरन्तरता है। यह दोनो द्रव्य का तत्व समझे जाते हैं। प्राकृत जगत मे, द्रव्य को ढूढना हो, तो मिश्रित पदार्थों से परे, उनके सरल अंशो, परमाणुओ, की ओर देखना चाहिए। परमाणुओ में ही एकता और स्थिरता मिलती है; दृष्ट पदार्थ तो सभी प्राकृत द्रव्यों के समूह हैं।

अब बाहर से हटा कर, ध्यान को अन्दर की ओर फेरें। यहा अनुभवो का ज्ञान होता है। प्रत्येक अनुभव में उसका व्यक्तित्व दिखायी देता है, परन्तु स्थिरता तो नही दिखायी देती। एक चेतना-अवस्था के बाद दूसरी आती है; दूसरी के बाद तीसरी आती है, और यह क्रम जारी रहता है। यह मेरी हालत में होता है; यही अन्य मनुष्यो की हालत मे होता है। इन सारी चेतना-अवस्थाओ मे, एक विचित्र विलक्षणता दिखायी देती है। सरलता के लिए कल्पना करे कि एक घण्टे में प्रत्येक मन में, १०० चेतना-अवस्थाए प्रकट होती हैं, और एक स्थान, में ४० पुरुष बैठे हैं। वहां कुल ४००० चेतना-अवस्थाएं प्रकट होगी। ये अवस्थाएं न तो सब एक दूसरे से असंगत होती हैं, और न ही सभी एक संगठन में होती हैं।

क, ख, घ . . . .एक समूह बनाती हैं।

क' ख' घ' . . . . .दूसरा समूह बनाती हैं।

क'' ख'' घ'' . . . . तीसरा समूह बनाती हैं।

इस तरह, ४००० अवस्थाएं ४० समूहों में मिलती हैं; और आश्चर्य यह है कि यह विभाग ४० शरीरों से सन्तुलित होता है। इन समूहों का आन्तरिक सम्बन्ध अति

घनिष्ट होता है। हम इन समूहो मे से प्रत्येक को एक जीवात्मा के अनुभव कहते है। फूल मे अनेक गुण सम्मिलित मिलते है; प्रत्येक आत्मा मे अनेक अनुभवों की लड़ी मिलती है। मेरा भूत मेरे वर्तमान के साथ बंधा है; मेरे पड़ोसी का भूत उसके वर्तमान से बधा है। इस तरह, आत्मा में एकता और स्थिरता, जो द्रव्य के प्रमुख चिह्न है, दिखायी देते है।

३. आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण : डेकार्ट

दर्शन के लिए प्रत्येक धारणा युक्ति-युक्त होनी चाहिए। हम अपने अस्तित्व के पक्ष मे क्या हेतु दे सकते है? साधारण मनुष्य को तो यह प्रश्न हंसी का विषय प्रतीत होता है। विवेचन भी कहेगा कि यह प्रश्न ही हमारे अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण है। रोगी वैद्य से पूछता है कि उसके स्वस्थ हो जाने की कितनी सम्भावना है। वैद्य उसे उत्तर दे देता है। यदि वह वैद्य से पूछे कि क्या वह जीवित है, या मर चुका है, तो वैद्य के लिए इतना कहना ही पर्याप्त है कि यह प्रश्न ही अपना उत्तर है। नवीन दार्शनिको मे, डेकार्ट ने आत्मा के अस्तित्व के पक्ष मे इमी प्रकार का विचार प्रकट किया है, डैकार्ट को नवीन तत्व-ज्ञान का पिता कहा जाता है। उसने जिस विचार-धारा को आरम्भ किया, वह देर तक तात्विक विचार का केन्द्र बनी रही। अब हम डेकार्ट के सिद्धान्त को देखते है।

डेकार्ट की अपनी शिक्षा मे गणित प्रधान विषय था। उसने तत्व-ज्ञान को गणित के ढाचे मे ढालना चाहा। इस प्रवृत्ति के कारण, उसने तत्व-ज्ञान मे सकुचित दृष्टि-कोण को अपनाया, और कहा कि सत्य को जानने की राय ही विधि है, और वह गणित की विधि है। गणित मे हम स्वतः-सिद्ध धारणाओ से आरम्भ करते है, और उनकी नीव पर भवन खडा करते है। यह भी आवश्यक होता है कि हम अपने अनुसन्धान मे ऐसी विधि पर चले, जिसमे किसी प्रकार के भ्रम का अवकाश ही न रहे। ऐसी विधि मे, डेकार्ट ने चार निम्न 'नियम' बयान किये :—

(१) मै किसी धारणा को सत्य स्वीकार नही करूंगा, सिवाय उस हालत के कि मुझे इसके सत्य होने का पूरा विश्वास हो जाय। अन्य शब्दो मे, मै उतावली और पक्षपात से बचूगा, और उसी हालत मे किसी धारणा को मानूगा, जबकि यह मेरी बुद्धि को ऐसी स्पष्ट दिखायी दे कि इसमे सन्देह की सम्भावना ही न हो।

(२) मै प्रत्येक कठिन प्रश्न को विश्लेषण से इतने सरल प्रश्नो मे विभक्त करूंगा, जितनों से प्रश्न के हल होने मे सुगमता हो।

(३) मै अपनी खोज में, सरल समस्याओं से आरम्भ करके पेचीली समस्याओ

की ओर चलूंगा, और जहां नियम विद्यमान नही, वहा अध्ययन के विषय को नियमित बनाऊंगा।

(४) मै किसी समस्या के समाधान मे सारी विचारणीय बातो को ध्यान में रखूंगा, और यत्न करूंगा कि कोई पक्ष बाकी न रह जाय।

इन नियमों मे पहिला नियम हमारे लिए विशेष महत्व का है। तत्व-ज्ञान की बाबत डेकार्ट ने कहा :—

'सारे युगो में, अति प्रसिद्ध पुरुषो ने तत्व-ज्ञान को विचार का विषय बनाया है; और इस पर भी, कोई बात भी ऐसी नही, जो आज भी निर्विवाद और असन्दिग्ध हो। मुझे यह भी ख्याल नही कि जहा इतने बडे पुरुष सफल नही हुए, मै सफल हो सकूंगा। प्रत्येक विषय के सम्बन्ध मे इतने भिन्न विचार है, और उनमे से हर एक को विद्वान समर्थक मिले हैं। इसे देखकर मुझे ध्यान आया कि इन विरोधी विचारो मे एक ही सम्भवतः सत्य हो सकता है। मैंने निश्चय किया कि जहा केवल सत्य की सम्भावना ही हो, उसे असत्य समझ लू।'

जब हम सन्देह की पकड मे आ जायं, तो हमारे लिए दो मार्ग खुले होते हैं :—

(१) जिस धारणा के मानने मे कोई कठिनाई नही, उसे मानते रहे।

(२) किसी धारणा को भी, जिसकी बाबत सन्देह की सम्भावना है, न माने।

डेकार्ट ने अपने लिए दूसरा मार्ग अंगीकार किया, चूंकि प्रत्येक धारणा मे सन्देह की सम्भावना होती ही है, उचित यही है कि व्यापक सन्देह से आरम्भ करे। मैं एक समकोण चतुर्भुज को देख रहा हूं। ऐसा मुझे प्रतीत होता है, परन्तु क्या इस अनुभव मे सन्देह के लिए कोई स्थान नही ?

यह सम्भव है कि वास्तव मे कोई समकोण विद्यमान नही, और मेरी कल्पना एक चित्र की रचना कर रही है।

यह सम्भव है कि मैंने समकोण देखा है, परन्तु इसे देखने के बाद, अनजाने मे मेरी दृष्टि जाती रही है, और मै कल्पना को प्रत्यक्ष समझ रहा हूं।

यह भी सम्भव है कि बाहर एक आकृति मौजूद है, परन्तु मै न चार तक ठीक गिन सकता हू, न भुजाओ या कोणो की समता की बाबत निर्णय कर सकात हू।

सरल मार्ग यही है कि अपने अस्तित्व, विश्व के अस्तित्व, परमात्मा के अस्तित्व सब कुछ को अनिश्चित ही समझा जाय।

डेकार्ट को शीघ्र ही सूझा कि वह सन्देह तो कर ही रहा है; इस सन्देह की सत्ता में सन्देह नही हो सकता। सन्देह एक प्रकार का चिन्तन है। इसलिए चिन्तन का

अस्तित्व मानना ही पडता है। डेकार्ट का पहला सत्य, जो हर प्रकार के सन्देह से ऊपर है, यह था :—

'मैं चिन्तन करता हूं, इसलिए मै हू।'

साधारण दृष्टि मे यह एक अनुमान दिखायी देता है :—

'जो कुछ चिन्तन करता है, वह सत्य है।'

'मे चिन्तन करता हू,

इसलिए, मै सत्य हूं।'

यह अनुमान तो निर्दोष है, परन्तु कुछ आलोचक कहते है कि डेकार्ट ने 'चिन्तन' के असन्दिग्ध तथ्य से 'चिन्तन' तक जा पहुचने मे, अपने प्रथम नियम को ध्यान में नही रखा। उसने फर्ज कर लिया है कि कोई क्रिया निराधार नही हो सकती, और इसे द्रव्य के आश्रय की आवश्यकता है। तथ्य यह है कि डेकार्ट ने 'स्पष्ट विचार' को अपना पथ प्रदर्शक स्वीकार किया, और कई स्वतः-सिद्ध धारणाओं को माना। उनमे से कुछ धारणाए ये हैं :—

(१) जो कुछ भी है, अपने होने के लिए कोई कारण रखता है।
(२) 'अभाव' से कोई वस्तु, जिसका अस्तित्व है, उत्पन्न नही हो सकती।
(३) प्रत्येक वस्तु अपने कारण मे आकृत रूप से विद्यमान है।
(४) द्रव्य मे, गुणो की अपेक्षा अधिक सत्ता है।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि मौलिक तथ्य, जिससे डकार्ट ने आरम्भ किया है, क्या है?

'मैं चिन्तन करता हू, इसलिए मे हू।'

इस वाक्य को दो अर्थो मे समझा जा सकता है. एक अनुमान के रूप मे, दूसरा व्याख्या के रूप मे। दूसरे अर्थ मे हम कहते है—'मे चिन्तन करता हू, अन्य शब्दो मे, मैं हू।'

अनुभव का मौलिक तथ्य क्या है? इसमे मतभेद है। कुछ लोग कहते हे कि तथ्य तो इतना ही है कि बोध है, सुख-दुःख की अनुभूति है, सकल्प या क्रिया है। इन अनुभवो मे, और इन जैसे अन्य अनुभवो मे, हम, सम्बन्ध प्रविष्ट करके, चिन्तन आत्मा का प्रत्यय बनाते है, और कहते है कि 'हम' है। दूसरा ख्याल यह है कि मौलिक तथ्य यह नही कि ज्ञान है, अपितु यह कि मै जानता हू; यह नही कि सुख-दुःख है, अपितु यह कि मै सुखी या दु.खी हूं। मौलिक तथ्य यह नही कि सन्देह है, अपितु यह कि मैं सन्देह मे हूं। यह डेकार्ट का विचार प्रतीत होता है। इसे ध्यान मे रखे, तो यह

आक्षेप निराधार है कि डेकार्ट ने चेतना-अवस्था से उलाघ कर चेतन-द्रव्य तक जा पहुंचने मे अपने प्रथम नियम को भुला दिया।

डेकार्ट ने चिन्तन को विस्तृत अर्थो मे लिया : इसमे बोध के साथ, अनुभूति और क्रिया को भी सम्मिलित किया। ऐसे चिन्तन को उसने चेतन आत्मा का अकेला विशेषण बताया। मै चेतन पदार्थ हूं। साधारण विचार मे, मै अपने आपको आत्मा +शरीर समझता हूं, और इन दोनो की निश्चितता मे कोई भेद नही करता।

डेकार्ट ने इन दोनो की स्पष्टता मे भेद किया। वह कहता है कि चिन्तन और चिन्तक के अस्तित्व मे सन्देह की सम्भावना ही नही, परन्तु मानव शरीर की बाबत यह नही कह सकते। शरीर प्राकृत जगत का अंश है। मुझे प्रतीत होता है कि जगत की वास्तविक सत्ता है। मै ख्याल करता हू कि यह सत्ता भ्रम-मात्र नही, क्योकि परम पवित्र परमात्मा के राज्य मे मुझे ऐसा स्थायी धोखा नही हो सकता। परन्तु यह भी सम्भव है कि कोई द्रोही आत्मा, जिसकी शक्ति असीम है, मुझे निरन्तर धोखे मे रखता है। ऐसे द्रोही आत्मा की निस्सीम शक्ति भी मुझे अपने चिन्तन की बाबत धोखा नही दे सकती। यदि मै चिन्तन करता हू, तो मेरा चिन्तन निर्मूल हो सकता है, परन्तु चिन्तन तो होता ही है।

जब हम किसी वाह्य पदार्थ की बाबत विचार करते है, तो, इस विचार-क्रिया मे अपने मन की बाबत भी हमारा ज्ञान बढता जाता है। सारा ज्ञान आत्म-ज्ञान भी है।

डेकार्ट के मत का सार यह है :—

(१) हमे अपने अस्तित्व मे सन्देह हो ही नही सकता। सन्देह आपही सन्देह करने वाले के अस्तित्व का अकाट्य प्रमाण है।

(२) हम अपने आपको किसी अन्य पदार्थ से प्रथम जानते है, और उसमे बेहतर जानते है।

(३) अन्य पदार्थो के जानने मे हमारा आत्म-ज्ञान भी बढता जाता है।

४. सांख्य-सिद्धान्त

साख्य-सिद्धान्त मे निम्न बातो पर विशेष बल दिया गया है :—

(१) पुरुष और प्रकृति दो मौलिक तत्व है। इनमे जाति-भेद है : पुरुष चेतन है, प्रकृति जड है।

(२) पुरुष अनेक है। न किसी पुरुष के टुकडे हो सकते है, न एक से अधिक पुरुष सयुक्त होकर, कोई नया पुरुष बना सकते है।

(३) प्रकृति एक है। वह पुरुष की दृष्टि पड़ने पर, २३ रूप धारण करती है। इन्हे प्रकृति के विकार या विकृति कहते है।

(४) प्रकृति के विकास मे कोई निरपेक्ष नूतनता प्रकट नही होती; कार्य-कारण पहिले से ही विद्यमान है। जो अव्यक्त था, वह व्यक्त हो जाता है।

यहा हमे पहले दो विषयो की बाबत विचार करना है। साख्य आत्मा को चेतन या अप्राकृत बताता है। यही डेकार्ट का मत है। प्रकृति मे जो विकार होता है, उसका कारण आत्मा और प्रकृति का सयोग है। पुरुष की दृष्टि न पडे, तो प्रकृति मे परिवर्तन का आरम्भ ही नही हो सकता। ऐसे संयोग से अधिक पुरुष का प्रकृति के साथ सम्बन्ध नही। डेकार्ट ने आत्मा और प्रकृति के भेद को इतना बढ़ा दिया कि वह इनके कारण-कार्य सम्बन्ध को समझ नही सका। साख्य ने इस सम्बन्ध को स्वीकार ही नही किया; परन्तु इसका अर्थ यह नही कि किसी प्रकार के सम्बन्ध को भी स्वीकार नही किया। प्रकृति का विकास पुरुष की दृष्टि मे हुआ। यह साख्य मे अध्यात्म-वाद का अश है।

डेकार्ट ने अपने सिद्धान्त को मनन की नीव पर निर्मित किया। मनन व्यक्तिगत क्रिया है। डेकार्ट की व्याख्या मे बार-बार 'मै' शब्द का प्रयोग होता है। उसने अपना मनन आरम्भ ही इसलिए किया था कि उसे अन्य विचारको के विचारो मे इतना भेद और विरोध दिखलायी दिया। उसने अपने अस्तित्व, परत्मात्मा के अस्तित्व, प्राकृत जगत की बाबत कहा, परन्तु अन्य आत्माओ की बाबत विचार करने की आवश्यकता नही समझी। साख्य ने एकवाद-अनेकवाद के प्रश्न को महत्व दिया है। साख्य के मतानुसार जीवात्मा अनेक है। जैसा हम आगे देखेगे, कुछ विचारक कहते है कि सारे जीवात्मा एक आत्मा के ही अनेक रूप है। साख्य इस ख्याल को स्वीकार नही करता। वह मनुष्यो की स्थितियो के भेद की ओर से आखे बन्द नही करता। मेरा जीवन एक विशेष समय मे आरम्भ हुआ, और एक विशेष काल मे समाप्त हो जायगा। अन्य मनुष्यो के जीवन का आरम्भ और अन्त मेरे जीवन के आरम्भ और अन्त के साथ नही होता। जीवन मे भी मेरी स्थिति दूसरो की स्थिति से भिन्न है। मै यह लेख इस ख्याल से लिख रहा हूं कि कुछ लोग इसे पढेगे, क्योकि उनके लिए इसमें कुछ नयी बात होगी। मनुष्यों के झगड़ो का एक कारण यह है कि उनके स्वभाव नही मिलते। कर्म-भेद के कारण, एक पुरुष न्यायालय में दोषी के रूप मे पेश होता है; दूसरा उस पर दोष लगाता है; कुछ लोग एक ओर से, कुछ दूसरी ओर से साक्षी बनते है। न्यायाधीश सब कुछ सुनता है, और अपना निर्णय देता है, जो ठीक भी हो सकता है, और गलत भी हो सकता है। सारा सामाजिक व्यवहार अनेकवाद की स्वीकृति पर निर्भर है।

कुछ आलोचक कहते हैं कि सांख्य में जो कुछ अनेकवाद के पक्ष में कहा है, वह शरीर से सम्बद्ध जीवात्मा की बाबत कहा है; 'पुरुष' की बाबत नहीं कहा। सांख्य का पुरुष तो 'कर्त्ता' नही, केवल द्रष्टा है, और स्थितियो के भेद से परे है।

५. 'न्याय' सिद्धान्त

न्याय-दर्शन मे आत्मा के द्रव्यत्व की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि अनुभवो का अस्तित्व तो असन्दिग्ध है; परन्तु इनके अतिरिक्त, अनुभव करने वाले का अस्तित्व कल्पना-मात्र है। न्याय-दर्शन इस धारणा को अमान्य बताता है। आत्मा के द्रव्य होने के पक्ष में, न्याय निम्न हेतु देता है :—

(१) हमारे अनुभव का मूल इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है। ज्ञानेन्द्रियो से जो कुछ हमें स्पष्ट उपलब्ध होता है, वह सारा एक प्रकार का नही होता। आख से हम रूप-रग को देखते है; कानो से शब्द सुनते हैं; नाक से गन्ध लेते हैं। इन सब उपलब्धो मे जाति-भेद है। जैसा एक लेखक ने कहा है, 'ये गुण एक दूसरे मे घुस नही सकते।' रूप शब्द से अलग है; और ये दोनो गन्ध और रस से अलग हैं, मनोविज्ञान कहता है कि किसी अकेले गुण का बोध अब एक मानव-कल्पना है। मै हरापन नही देखता, किसी वस्तु को हरा देखता हूं। मै मिठास का अनुभव नही करता, किसी वस्तु को मीठा पाता हू। मेरा ज्ञान आरम्भ मे कुछ भी हुआ हो, अब यह ज्ञान गुणो का नही, गुणवन्त पदार्थों का ज्ञान है। पदार्थों का प्रत्यक्ष कैसे होता है? विविध इन्द्रिया विशेष गुणों की बाबत बताती है, इन विशेष गुणो को सूत्र मे पिरोना, उन्हे एक वस्तु मे देखना मन या आत्मा का काम है। आत्मा इन्द्रियो से पृथक न हो, तो पदार्थों का ज्ञान हो ही नही सकता। हमारा ज्ञान पदार्थों का ज्ञान है। ऐसे ज्ञान की सम्भावना ज्ञाता के अस्तित्व और उसकी क्रिया पर निर्भर है।

(२) हमारा प्रत्यक्ष एक तरह से अनुभव-बिन्दु है, जो वर्तमान मे व्यक्त होता है। परन्तु हम अनुभव को वर्तमान क्षण तक सीमित नही करते। मैं जो कुछ लिख रहा हू, वह वर्तमान क्षण का अनुभव नही; वर्षों के अध्ययन और मनन का फल है। बर्गसाँ ने स्मृति को मानसिक जीवन का रहस्य बताया है। स्मृति का अर्थ क्या है? मुझे इस समय एक अनुभव होता है और मै कहता हूं कि ऐसा अनुभव पहिले भी हो चुका है। पहिला अनुभव विनष्ट नही हो गया; किसी रूप में विद्यमान है। वर्तमान अनुभव से मैं बीते हुए अनुभव की तुलना करता हू, और उनके सादृश्य की बाबत निर्णय करता हूं। यह तभी हो सकता है जब वर्तमान अनुभव और बीता हुआ अनुभव एक ही अनुभवी के अनुभव हों। तुलना करने वाला, और उनमे सादृश्य देखने

वाला, उन अनुभवों से अलग होता है। अनुभव क्षणिक होते है; अनुभव करने वाल स्थायी होता है।

(३) संसार मे जो कुछ हो रहा है, उसके दो रूप है—केवल घटना और क्रिया। प्राकृत परिवर्तन केवल घटनाएं है, क्रिया चेतन के प्रयत्न का परिणाम है। प्राकृत घटना को हम निरे तथ्य के रूप मे देखते है, मानव क्रिया मे गुण-दोष का भेद करते है। हम समझते है कि क्रिया का कर्त्ता उसके फल का भागी है। हमारे अनुभव मे भले-बुरे का भेद एक स्पष्ट चिह्न है। 'नीति' मनुष्य की प्रकृति का अश है। मनुष्यो मे यह विश्वास व्यापक है कि शुभ और अशुभ का भेद वस्तुगत है, और हमारा कर्तव्य है कि शुभ कर्म करे, अशुभ कर्मो से बचे। अकेले अनुभवो के सम्बन्ध मे उत्तरदायित्व का प्रत्यय लागू ही नही होता, यह स्थायी कर्त्ता पर ही लागू हो सकता है। भले-बुरे कर्मो के फल मे जो व्यापक विश्वास मनुष्यो मे पाया जाता है वह बताता है कि मानव मे अस्थायी अनुभवो के अतिरिक्त कोई स्थायी तत्व भी विद्यमान है। इसी को जीवात्मा कहते है।

आत्मा का स्वरूप (२)

प्रवाहवाद

पिछले अध्याय मे हमने उन दार्शनिको की बाबत कहा है, जिनके मत मे आत्मा द्रव्य है। द्रव्य के दो प्रमुख चिह्न है—वह एकरूप है, और समय की गति के साथ उसमे परिवर्तन नही होता। अब हम ऐसे विचारको की ओर आते है, जो न आत्मा की एकता को मानते है, और न यह स्वीकार करते है कि वह हर प्रकार के परिवर्तन से परे है। अन्य शब्दो मे, वे आत्मा के द्रव्यत्व से इन्कार करते है।

द्रव्य के प्रत्यय की तह मे प्रमुख ख्याल यह है कि गुण और क्रिया किसी आश्रय के बिना हो नही सकते। जो विचारक वर्तमान अध्याय मे अध्ययन के विषय है, वे इस धारणा को स्वीकार नही करते। वे कहते है कि अनुभव को किसी अनभव करने वाले की आवश्यकता नही, वह आप अपने समाधान के लिए पर्याप्त है। पश्चिमी दार्शनिको मे ह्यूम ने इस मत का समर्थन किया, भारत मे बौद्धो ने इसका प्रसार किया। इन दोनो के मत पर कुछ विचार करे।

१. ह्यूम का मत

१. सामान्य विवरण

ह्यूम ने लाक के काम को जारी रखा, और अनुभववाद को उसकी सीमा तक पहुचा दिया। इसके विचार मे, हम जो कुछ भी जान सकते है, वह बाहर से प्राप्त होता है। 'जो कुछ पहले इन्द्रियो मे थ , वही बुद्धि मे हो सकता है।' अन्त मे ज्ञान परीक्षण ही है। जो ज्ञान हमे बाहर से उपलब्ध होता है, उसका चित्र भी स्मृति, पदार्थों की अनुपस्थिति मे, हमारे सम्मुख रख देती है। हम भेड, बकरी आदि पशुओ को देखते है। जब आखे बन्द करते है, या ये पदार्थ हमारे सामने नही रहते, तो भी इनके चित्र हमारी ज्ञान-धारा का भाग बनते है। प्रत्यक्ष और स्मृति के अतिरिक्त, ज्ञान का एक तीसरा स्रोत हमारी कल्पना है। यह भेड, बकरी, घोडे, ऊंट के कुछ

भागो को, उनके अन्य भागो से अलग कर के, सयुक्त करती है, और इस तरह हमारे लिए एक नया पशु बना देती है। ऐसा पशु कुदरत ने अभी तक नही बनाया, परन्तु सम्भावना की दुनिया मे तो इसके लिए स्थान है। कुछ मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि कल्पना निर्माण नही करती, केवल सम्भावना की दुनिया में किसी ऐसे पदार्थ को देखती है, जो वास्तविकता की दुनिया मे विद्यमान नही।

ह्यूम कहता है कि इन्द्रिया, स्मृति और कल्पना जो कुछ भी हमे बताती है, वह 'विशेष' ('यह' या 'वह') है। हम किसी विशेष घोडे को, किसी विशेष त्रिकोण को, किसी विशेष राज्य को देख सकते है, 'घोडे', 'त्रिकोण', 'राज्य' को देख नही सकते, क्योकि इनका कोई अस्तित्व ही नही। द्रव्य का प्रत्यय भी एक कल्पित, मिश्रित, प्रत्यय है, द्रव्य का वास्तविक अस्तित्व कुछ नही। सारी सत्ता अनुभवों की सत्ता है, इनके अतिरिक्त अनुभव करने वाला कोई नही। चिन्तन ही चिन्तन करने वाले है।

२. प्रवाहवाद का समर्थन

चेतना-अवस्थाओ के अस्तित्व को तो मानना ही पडता है। प्रश्न यह है कि इनके अतिरिक्त कोई स्थायी आत्मिक तत्व भी है, या नही। इसमे मन्देह नही कि ऐसे तत्व की सत्ता को सर्वसाधारण और बहुतेरे दार्शनिक भी मानते है। इस विश्वास का आधार क्या है?

ऐसा आधार निम्न तीन मे से एक हो सकता है —

प्रत्यक्ष,

अनुमान,

कल्पना।

सत्य प्रत्यक्ष तो अबाध प्रमाण है, अनुमान कारण-कार्य मम्बन्ध और कुदरत की अनुरूपता पर निर्भर है, सत्यासत्य के निर्णय मे कल्पना का कोई महत्व नही।

आत्मा के द्रव्य होने, न होने की बाबत प्रत्यक्ष क्या कहता है? ह्यूम का उत्तर यह है :—

'जहा तक मै देख सकता हूं, जब मै निकटतम रूप में, उस वस्तु मे जिसे मैं अपना स्वत्व कहता हू, प्रविष्ट होता है तो मै सदा किसी विशेष प्रत्यक्ष के सम्पर्क मे आता हूं—जैसे गर्मी या सर्दी, प्रकाश या छाया, दुःख या सुख। मै कभी अपने आपको, किसी प्रत्यक्ष के बिना, पकड़ नही सकता।'

यह अजीब 'मै' है, जो सब कुछ करता भी है, और अपने अस्तित्व मे इन्कार भी करता जाता है।

ह्यूम कहता है—'सारे विशेष प्रत्यक्ष एक दूसरे से भिन्न है, एक दूसरे से अलग हो सकते है, और अपनी अलग स्थिति मे विचार का विषय बन सकते है। उन्हें अपनी सत्ता के आश्रय के लिए, किसी वस्तु की आवश्यकता नही।'

अन्तिम वाक्य असन्दिग्ध परीक्षित तथ्य नही; एक विचार या सम्मति है। ये प्रत्यक्ष या अनुभव एक दूसरे मे संयुक्त होते है। ह्यूम ने मनोविज्ञान मे मयोग के नियम को बहुत महत्व दिया। संयोग होता तो है, परन्तु होता कैसे है? जब हम अनुभव पर दृष्टि डालते है, तो पता लगता है कि यह 'सयोग' अकस्मात् ही नही होता; यह किसी प्रयोजन या उद्देश्य की सिद्धि के लिए सकल्पित क्रिया का फल भी होता है। स्वप्न मे ऐसी क्रिया विद्यमान नही होती। जागते हुए भी कभी-कभी स्वप्न की सी दशा होती है, परन्तु बहुधा 'मयोग' यत्न का फल होता है।

प्रत्यक्ष के अतिरिक्त दूसरा साधन जिससे हम सत्यासत्य का निर्णय कर सकते है अनुमान है। अनुमान की नीव कारण-कार्य सम्बन्ध पर है। ह्यूम कहता है कि है, कि यह सम्बन्ध वास्तव मे कही विद्यमान नही। प्रकटन एक दूसरे के बाद विद्यमान होते है। जब एक प्रकटन किसी दूसरे प्रकटन के पूर्व बार-बार हमारे अनुभव मे व्यक्त होता है, तो हम उसे दूसरे प्रकटन का कारण कहने लगते है। ह्यूम के विचार मे, 'प्रकटन एक दूसरे से संयुक्त होते है, सम्बद्ध नही होते।' हमारा अनुभव सीमित है, और सम्भावना से परे, पूर्ण निश्चितता तक नही पहुंच सकता, प्रत्यक्ष की तरह, अनुमान भी स्थायी आत्मिक द्रव्य को प्रमाणित करने मे असमर्थ है।

आत्मिक एकता का ख्याल कल्पना का परिणाम है, हमारे अनुभव इतने वेग से एक दूसरे के बाद आते है, कि हमे एकता का भ्रम होता है। इसी से यह भ्रम भी होता है कि आत्मा मिश्रित वस्तु नही। वास्तव मे एकता और स्थिरता न कही बाहर है, न अन्दर है। बाहर के सारे पदार्थ परिवर्तनशील है; अन्दर की ओर देखे, तो भी परिवर्तन ही दिखायी देता है।

३. दो उपमाएँ

जब कोई लेखक समझता है कि वह अपनी वा पढने वालो की अयोग्यता के कारण, अपने आशय को पर्याप्त रूप मे स्पष्ट नही कर सकता, तो वह बुद्धि से हट कर कल्पना की ओर फिरता है। कल्पना के सामने अपने अभिप्राय को चित्रित करने के लिए, वह उपमा की सहायता लेता है। ह्यूम भी आत्मा की वास्तविक स्थिति को जनाने के लिए, दो उपमाओं का प्रयोग करता है। वह कहता है :—

'मन एक प्रकार की नाटय-शाला है, जहां कुछ अनुभव एक दूसरे के पीछे प्रकट

होते है; इधर से उधर जाते है, फिर ऐसा करते है, चल देते है, और असंख्य विभिन्न स्थितियों मे एक दूसरे से संयुक्त होते है। इस व्यापार मे, न एक समय मे सरलता है, न विविध कालो मे एकता है, चाहे हममे सरलता और एकता, दोनो की कल्पना करने की कितनी ही प्राकृत प्रवृत्ति हो।

नाटच-शाला की उपमा से हमे भ्रम मे नही पडना चाहिए। ये अनुभव जो एक दूसरे के पीछे आते है, यही मन है। जिस स्थान पर ये खेल खेले जाते है, उसका हमे अति दूर का भी कोई बोध नही, न ही उस सामग्री का कोई प्रत्यय है, जिससे यह नाटचशाला बनी है।'

दूसरी उपमा यह है :—

'एक विचार दूसरे विचार का पीछा करता है, और अपने पीछे आने वाले विचार को खीचता है, जो इसका स्थान ले लेता है। इस लिहाज से, मैं आत्मा के लिए अच्छी से अच्छी उपमा जो दे सकता हू, वह गणतन्त्र राज्य की है, जिसमे विविध नागरिक एक दूसरे से, शासक और प्रजा के सम्बन्ध मे, बंधे है, और अन्य व्यक्तियो को जन्म देते है, जो गणतन्त्र राज्य को, इसके अशो मे परिवर्तन होते हुए भी, स्थिर बनाये रखते है।

उपमा को उपमा ही की दृष्टि से देखना चाहिए, और इस पर अनुचित दबाव नही डालना चाहिए। इस पर भी, जब ह्यूम जैसा विचारक किसी उपमा को इतना उपयोगी कहता है, तो इसमे पर्याप्त सार होना चाहिए।

ह्यूम की दोनो उपमाओ मे एक पहलू ऐसा है, जिसे ह्यूम ने कोई महत्व नही दिया, परन्तु हम उसकी ओर से उदासीन नही हो सकते। नाटक मे कई नट एक साथ खेलते है, और वे अपने लिए ही नही खेलते। राज्य मे भी कुछ नागरिक मरते है, कुछ नये पैदा होते है; परन्तु बहु सख्या एक समय मे जीवित होती है। वृक्ष उगते और गिरते है, वन कायम रहता है। दूसरी उपमा में, ह्यूम ने एक वाक्य मे ही अपने मत को प्रकट किया है ! 'एक विचार दूसरे विचार का पीछा करता है, और एक तीसरे विचार को खीचता है, जो आकर उसका स्थान ले लेता है।' जो कुछ बीत चुका है, वह तो रहा नही, जो अभी आने वाला है, उसकी इस समय कोई सत्ता नही। वास्तविक अस्तित्व केवल वर्तमान अनुभव का ही है। ह्यूम के मत मे, मन एक ऐसा नाटक है, जिसमें एक समय एक ही नट खेलता है; एक ऐसा राज्य है, जिसमे एक समय एक ही नागरिक है। यहां तो शासक और प्रजा का प्रश्न ही नही उठता; नागरिक का प्रत्यय ही ह्यूम के सिद्धान्त में असंगत है।

इस कठिनाई में ह्यूम के लिए एक ही सहारा रह जाता है, और वह इससे पूरी

सहायता लेता है। यह सहारा स्मृति का है। ह्यूम कहता है कि स्मृति आत्म-एकता को देखती है, और इसे बनाती भी है। मैं केवल उन अनुभवों की याद कर सकता हूं, जो मेरे अनुभव हो चुके हैं, किसी अन्य मनुष्य के अनुभव को मेरा याद करना कुछ अर्थ ही नही रखता। जो कुछ मेरी स्मृति में है, वह मेरे वर्तमान अनुभव के साथ मिल कर मेरा मन है। मेरी स्मृति में जो अन्तर होते हैं, उन्हें कल्पना भर देती है। स्वप्न-रहित निद्रा प्रतिदिन ऐसा अन्तर पैदा कर देती है। ह्यूम भी अन्य विचारकों की तरह, प्रत्यक्ष स्मृति और कल्पना को ज्ञान के तीन साधन स्वीकार करता है। हमें देखना है कि उसका सिद्धान्त इन तीनों का सतोषजनक समाधान है।

४. आलोचना : कांट का मत

काट ने कहा कि ह्यूम ने उसे आलोचना-विहीन निद्रा से जगा दिया। इस कथन ने ह्यूम के महत्व को बहुत बढा दिया, और कुछ लोग तो उसे अंग्रेज दार्शनिकों में प्रथम पद देते हैं। जो पुरुष काट के लिए पथप्रदर्शक बनता है, उसके महत्व में क्या सन्देह हो सकता है? अपनी भूल को व्यक्त करके, ह्यूम ने काट के लिए मार्ग साफ किया। काट का विचार ह्यूम की सबसे अच्छी आलोचना है।

ह्यूम कहता है—'एक विचार दूसरे विचार के लिए स्थान खाली करता है, और दूसरा तीसरे के लिए खाली करता है।' ह्यूम 'विचार' शब्द का प्रयोग प्रत्येक अनुभव के लिए करता है। ये विचार या अनुभव आते कहा से हैं? ह्यूम के विवरण से ऐसा लगता है कि ये वर्तमान स्थिति में आकाश से गिरते हैं। काट के अनुसार, पूछने का प्रश्न तो यह है कि ये अनुभव बनते कैसे हैं? इसकी ओर ह्यूम ने ध्यान नही दिया। ह्यूम के सिद्धान्त में, प्रत्यक्ष का स्थान मौलिक है; स्मृति और कल्पना इसी नीव पर कुछ बना सकती हैं। मैं फूल को देखता हूं, और कहता हूं कि यह सुन्दर है। फूल को देखने का अर्थ क्या है?

आख रग-रूप देखती है; नासिका गन्ध लेती है; त्वचा कोमलता का अनुभव करती है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय एक विशेष गुण का बोध प्राप्त करती है; फूल का बोध किसी अकेली इन्द्रिय का काम नही। बाह्य जगत प्रत्यक्ष की सामग्री देता है, प्रत्यक्ष नही देता। प्रत्यक्ष के व्यक्त होने के लिए, कुछ क्रियाओं की आवश्यकता होती है, जो इस सामग्री को विशेष रूप देती है। ये क्रियाएं एक कर्त्ता की ओर से होती हैं। इनकी नीव पर, हम कर्त्ता ज्ञाता में दो पहलू देखते है। कांट इन्हें 'उपलब्ध-शक्ति' और 'बुद्धि' का नाम देता है। उपलब्ध-शक्ति प्राप्त सामग्री को 'देश' और 'काल' की आकृतियों में देखती है: प्रत्येक घटना देश और काल में प्रतीत होती है। जो गुण

विविध इन्द्रिया ग्रहण करती है, उन्हें संयुक्त करना, एक वस्तु का बोध बनाना बुद्धि का काम है। हम कहते है—'फूल सुन्दर है।' इस निर्णय में हम दो प्रत्ययों (फूल और सुन्दर) को एक साथ रख कर, उनकी अनुकूलता की घोषणा करते हैं। यह इन्द्रियो या इन्द्रिय-शक्ति का काम नही; यह मन का काम है। इस तरह हम प्रत्यक्ष को ग्रहण नही करते, क्रिया करके, उपलब्ध-सामग्री को प्रत्यक्ष का रूप देते है। फिर वस्तुओं मे गुणो का भाव या अभाव देख कर निर्णय करते है। इन दोनों व्यापारों में क्रिया की आवश्यकता है, और ह्यूम के सिद्धान्त मे ऐसी क्रिया के लिए कोई स्थान नही। वहा तो घटनाए ही घटनाए है।

दर्शनशास्त्र मे दो प्रश्न प्रमुख है—

(१) तत्व का ज्ञान

(२) ज्ञान का तत्व

प्राचीन दर्शनकार तत्व के स्वरूप को समझने का यत्न करते रहे। नवीन काल मे, अनुभववादियो ने कहा कि इस खोज से पहले हमे यह जानना चाहिए कि ज्ञान क्या है? इसके साधन क्या है? इसकी सीमाएं कहा है? लाक, बर्कले और ह्यूम ने ज्ञान-मीमासा को अपने विचार का विषय बनाया। काट का दृष्टि-कोण भी यही था। काट के पहिले कुछ विचारको ने कहा था कि हमारा सारा ज्ञान अन्दर से प्राप्त होता है; अनुभववादियो ने कहा कि सारा ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है। काट ने कहा कि इन दोनो मतो मे सत्य तो है, परन्तु अपूर्ण सत्य है। तथ्य यह है कि हमारे ज्ञान की सामग्री बाहर से आती है, और इस सामग्री को विशेष आकृति देना मन का काम है। ज्ञान के निर्माण में, बाहर और अन्दर दोनो का हाथ है। इस निर्माण मे मन जो कुछ करता है, उसे भी हम दो अंशों मे देख सकते है : इन्द्रिया बाहर से कुछ ग्रहण करती है; बुद्धि इस उपलब्ध सामग्री पर काम करती है। इन्द्रिया निष्क्रिय है; बुद्धि सक्रिय है। इन्द्रिया प्रकटनों से परे, मूल सत्ता तक नही पहुंच सकती। चूकि सारे ज्ञान का आधार इन्द्रिय-उपलब्ध ही है, इसलिए हम सत्ता को इसके असली रूप में नही देख सकते; इसके प्रकटनो की बाबत ही जान सकते है।

कांट के सिद्धान्त मे, द्वन्द्व का प्रत्यय प्रधान प्रत्यय है। जैसा ऊपर के विवरण से स्पष्ट है, यह द्वन्द्व कई रूपों में व्यक्त होता है:—

(१) अन्तिम सत्ता और प्रकटनो का भेद

(२) 'अन्दर' और 'बाहर' का भेद

(३) सक्रियता और निष्क्रियता का भेद

(४) इन्द्रिय-बोध और बुद्धि का भेद

काट कहता है कि हम प्रकटनो मे परे, और उनके आधार, स्थायी सत्ता को मानने मे तो विवश हैं, परन्तु हमारा ज्ञान उसके प्रकटनों तक ही सीमित है। यह रोक वाह्य और आन्तरिक सत्ता दोनो की हालत मे लागू होता है। प्रकृति की तरह, हम आत्मा के अस्तित्व से भी इन्कार नही कर सकते, परन्तु हमारा ज्ञान इसके प्रकटनो से परे नही जाता। आख अन्य पदार्थो को देखती है, अपने आपको देख नही सकती; त्वचा अनेक पदार्थो को छूती है, अपने आपको छू नही मकती। इसी तरह, ज्ञाता अपने आप को ज्ञान का विषय नही बना सकता। ह्यम ने ठीक कहा था कि वह आत्मा को अपने अनुभवो मे नही देख सका। अनुभव करने वाला अनुभव है ही नही, अनुभवो के समूह मे मिल कैसे सकता? ह्यूम ने उसे गलत स्थान मे ढूढना चाहा।

५. स्मृति और कल्पना

ह्यम ने स्मृति का सहारा लिया है। उसने मन को अनुभवो का समूह बताया, और इन अनुभवो को नाटक खेलने वालो और राज्य के नागरिको से उपमा दी। जैसा हम देख चुके है, ये दोनो उपमाए अनुचित हैं। कोई दो अनुभव एक साथ मौजूद ही नही होते. एक जाता है, तब दूसरा आता है। ये अनुभव एक पक्ति या जुलूस के रूप मे दिखायी देते है। जैसा हम पहिले कह चुके है, किसी पक्ति को अपने पक्ति होने का ज्ञान नही हो सकता, ज्ञान किसी व्यक्ति को ही होता है।

स्मृति की सम्भावना ऐसे ज्ञाता के लिए है जिसने भूत काल मे कुछ जाना, और जो स्मरण-अनुभव और वर्तमान अनुभव मे समानता देख सकता है। अनुभववाद के पास स्मृति के लिए कोई सन्तोषजनक समाधान नही। स्मृति मे कुछ अन्तर भी होते हैं। ऐसा मालूम होता है कि कल रात मैने स्वप्न-रहित निद्रा मे कई घंटे गुजारे। आज प्रातः जागा, तो मैने मानसिक कथा को वही से आरम्भ किया, जहा कल रात दस बजे इसे छोडा था। ऐसे अन्तरो को कल्पना भर देती है। कल्पना घटना नही, एक क्रिया है। यह अनुभवो के अंशो को उनके साथियो से अलग करती है, और फिर उन्हे जोड़ कर नयी उपज करती है। ऐसी क्रिया के लिए अनुभवो मे कोई क्षमता नही; इसके लिए क्रिया करने वाले कर्त्ता की आवश्यकता है।

ह्यम ने मन का जो विवरण दिया है, उसमे प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना तीनो ही अविदित रहस्य रहते हैं। उसने मानसिक नाटक का जो विवरण दिया है, वह 'हैमलेट' का खेल है, जिसमें कुवर हैमलेट मौजूद नही।

२. बौद्ध मत

१. गौतम बुद्ध

गौतम एक राजगृह मे पैदा हुआ। जीवन के पहले २९ वर्ष वही रहा। उसकी शिक्षा एक साधारण राजकुमार की शिक्षा हुई होगी। २९ वर्ष की आयु में उसने घर को छोड़ा और साधु बना। छः वर्ष तक साधारण साधु का जीवन व्यतीत किया। आलार कलाम से योग-क्रिया सीखी, और घोर तपस्या की। इस तपस्या ने उसे बहुत कमजोर कर दिया। एक दिन जब वह इस अवस्था मे जंगल मे पडा था, गायकों की एक मण्डली पास से गुजरी। मण्डली में एक गायिका मधुर स्वर मे एक गीत गाती जाती थी। गीत का तात्पर्य यह था :—

'यदि सितार के तारों को बहुत कसा जाय तो वे टूट जाते है, यदि पर्याप्त न कसे, तो उनमे से राग ही नही निकलता। सितार के तारे ठीक कसे हों, तो गान सुनने वालो के दिल भी नाचने लगते हे। सितार के तारो को न बहुत कसो, न ढीला रहने दो : इन्हे ठीक कसो।'

गायक मण्डली तो गुजर गयी, परन्तु गौतम के जीवन मे एक बडा परिवर्तन पैदा कर गयी। उसे ख्याल आया कि वह अपने जीवन-रूपी सितार के तारों को बहुत सख्त कस रहा है। उसे कुछ करना है; ऐसी घोर तपस्या उसे अपना काम करने के अयोग्य बना देगी। उसने तपस्या को छोड़ा, और वहा से चल दिया।

उसी रात उसे प्रतीत हुआ कि उसे सत्य का बोध हो गया है। गौतम 'बुद्ध' बन गया।

२. बौद्धमत में दार्शनिक सम्प्रदाय

गौतम बुद्ध को या तो दार्शनिक विचारो मे बहुत रुचि न थी, या वह इन्हें सर्व-साधारण के लिए लाभकारी नही समझता था। उसकी शिक्षा प्रायः शुद्ध आचरण के सम्बन्ध में होती थी। उसकी मृत्यु के बाद, दार्शनिक विचारों ने प्रभुत्व प्राप्त किया, और समय बीतने पर कई सम्प्रदाय खडे हो गये। दो प्रमुख सम्प्रदाय 'हीनयान' और 'महायान' के नामों से विख्यात हे। हीनयान (छोटा मार्ग) पुराना सिद्धान्त है, और आत्मिक उन्नति के लिए वैयक्तिक प्रयत्न पर बल देता है। महायान (लम्बा मार्ग) ध्यान पर अधिक बल देता है। यह चीन और जापान में प्रचलित है। जापान मे इसका प्रमुख रूप 'जयन' (ध्यान) है। हम इन दोनों को 'कर्मयोग' और 'ध्यान-योग' का नाम दे सकते हैं।

महायान का मौलिक सिद्धान्त जीवन की एकता है। इस धारणा को स्वीकार करें, तो कुदरती तौर पर दुःख और सुख को साझा समझना होता है। जब मैं किसी अन्य प्राणी को दुख देता हूं, तो अपने आपको ही दुःख देता हूं; जब किसी को सुखी करता हूं, तो अपने आपको ही सुखी करता हूं। महायान मे करुणा ने प्रमुख पद प्राप्त कर लिया। इस करुणा ने एक विशेष रूप यह धारण किया कि भले पुरुष अपनी पवित्रता भी दूसरो को दे सकते है। इस विचार ने कर्म-नियम के सम्बन्ध मे दोनो सम्प्रदायो के दृष्टि-कोण में भेद पैदा कर दिया। हीनयान के मतानुसार प्रत्येक को अपने कर्मों का फल भुगतना पडता है; महायान के अनुसार यह भी सम्भव है कि एक पुरुष बीजे और दूसरा काटे।

३. मौलिक सिद्धान्त

गौतम को जो बोध प्राप्त हुआ, उसका सार क्या है?

गौतम बुद्ध ने जीवन का परीक्षण किया, और देखा कि सत्ता मे तीन चिह्न व्यापक रूप मे मिलते है :—

(१) जो कुछ संसार मे है, अनित्य है। प्रवाह जारी रहता है; इसके अतिरिक्त स्थिरता कही दिखाई नही देती।

(२) जीवन मे दुःख का प्रभुत्व है। जन्म दुःख है; जरा दुःख है; रोग दुःख है; मृत्यु दुःख है; अप्रिय के साथ संयोग दुःख है; प्रिय का वियोग दुःख है; इष्ट पदार्थ का न मिलना दुःख है।

इस दुःख का कारण तृष्णा है। मनुष्य जीवन से चिमटा रहना चाहता है, क्योंकि वह अज्ञान में समझता है कि उसका अपना अलग और स्थायी अस्तित्व है। इस अज्ञान के दूर होने पर ही, दुखों से छूट सकते है।

(३) जीवन मे नित्य आत्मा विद्यमान नही। जीवन एक व्यापक प्रवाह है। इसके भाग, अविद्या में अपने आपको स्वतन्त्र सत्ता समझ लेते है। बिजली का एक प्रवाह अनेक कुब्बों को प्रकाशमान बना देता है; कुब्बे अविद्या में समझने लगते है कि वह प्रकाश उनका अपना प्रकाश है। इस अविद्या की पूर्ण निवृत्ति यही है कि मनुष्य वैयक्तिक अस्तित्व के भ्रम को मिटा दे। यही जीवन-ज्वाला का बुझ जाना या 'निर्वाण' है।

बौद्ध मत में निषेधात्मक प्रत्ययों की प्रधानता है। स्थिरता कही नही; हर ओर अस्थिरता ही अस्थिरता है। सुख का तो पता नही मिलता; दुःख व्यापक है।

नित्य आत्मा का अस्तित्व नहीं; जो कुछ है अस्थिर अनात्मा है। सामाजिक

व्यवहार मे, अहिसा सर्वोपरि वृत्त है। करुणा का प्रयोग कठिन है; अहिसा का प्रयोग सभी कर सकते है।

४. स्वत्व के स्कन्ध

आत्मा अनात्मा से अलग कही मिलती नही। कुछ विचारक कहते है कि हमे चेतन-अचेतन संघात को ही अन्तिम सत्ता स्वीकार करना, और इसी को अध्ययन का विषय बनाना चाहिए। बौद्धो का दृष्टि-कोण ऐसा ही है। वे स्वत्व मे निम्न पाच स्कंधो (शाखाओ) को सम्मिलित करते है—

(१) रूप, आकृति

इससे शरीर अभिप्राय है। जड पदार्थो और पशु-पक्षियो को हम बहुधा उनके आकार से ही पहचानते है। मनुष्यो की हालत मे भी ऐसा ही करते है।

(२) वेदना

यह सुख-दु:ख की अनुभूति है। यदि इन दोनो के मध्य मे कोई अवस्था है, तो वह भी वेदना मे सम्मिलित है।

(३) प्रत्यक्षीकरण

विशेष गुणो के बोध के आधार पर, हमे पदार्थो का ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्षीकरण है। किसी देखे हुए पदार्थ की पहचान भी इसमे सम्मिलित है।

(४) क्रिया-प्रवृत्ति

इसमे शारीरिक और मानसिक क्रिया की सारी प्रवृत्तिया सम्मिलित है।

५. चेतना-प्रवाह

आत्म-चेतना भी इसी मे आ जाती है।

यदि हम स्वत्व को इन पाच अशो का सघात मान ले, तो इसके अनित्य होने मे कोई सन्देह नही रहता। शरीर प्रतिक्षण बदलता है, भाव बदलता है, ज्ञान बदलता है, क्रिया बदलती है, और चेतना-प्रवाह तो प्रवाह ही है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या हम स्वत्व को स्कन्धो का समूह समझ सकते है। स्कन्ध के अशो की बाबत भी प्रश्न यही है कि उनमें नित्यता है, या नही।

बौद्धो का यह कथन कि कोई मिश्रित पदार्थ नित्य नही, ठीक है, परन्तु उनका दूसरा कथन कि स्वत्व स्कन्धो का संघात है, मान्य नही। जैसा काट ने कहा—'नित्य पदार्थ में ही परिवर्तन हो सकता है।' निरे परिवर्तन को मानने का तार्किक परिणाम यह था कि कुछ विचारकों ने सत्ता को शून्य के रूप मे ही देखा।

बुद्ध की शिक्षा प्रायः नैतिक होती थी। मृत्यु-शैया मे उसने भिक्षुओ को अन्तिम उपदेश यह दिया—

'बन्धुओ! मै तुम्हे याद कराता हूं कि जो कुछ बना है, वह टूटेगा। सावधान रहो।'

जब हम किसी पुरुष को सावधान रहने का आदेश देते है, तो हम फर्ज कर लेते है कि वह रहेगा। यदि उसे रहना ही नही, तो उसके सावधान रहने न रहने का प्रश्न ही नही उठता। बौद्ध-मत के अनुसार, नित्य आत्मा तो है नही, केवल क्षणिक चेतना-अवस्थाए है। जब इनमे से किसी से कहते है—'सावधान रहो', तो वह उत्तर देती है—'मै तो जा रही हू, मेरे पीछे आने वाली अवस्था को कहना।' पीछे आने वाली अवस्था भी यही कहती है।

बौद्ध-मत मे यह एक गम्भीर कठिनाई है। बुद्ध पुनर्जन्म को मानता था। उसने अपने कुछ पिछले जन्मो की बाबत ब्यौरा भी दिया। गौतम के रूप मे, उसका जन्म अगणित जन्मो मे अन्तिम जन्म था। इन जन्मो मे स्थिर रहने वाला अश, जो इन्हे बुद्ध के जन्म बताता था, क्या था? जहा अस्थिरता ही हो, वहा उन्नति का अर्थ क्या है? बौद्ध मत के अनुसार, कर्म-नियम निरन्तर काम करता है। हमारे कर्मो का फल चरित्र के रूप मे कायम रहता है। यह चरित्र ही एक जन्म के बाद दूसरे जन्म मे, दूसरे के बाद तीसरे मे, आगे चलता है, इसी की उन्नति-अवनति होती है।

चरित्र एक आकृति है। आकृति किसी वस्तु की होती है। हम विशेष पुरुषो के चरित्र की बावत तो कह सकते है, परन्तु निरे चरित्र की बाबत, जो किसी का भी चरित्र नही, चिन्तन नही कर सकते। उन्नति एक प्रकार का परिवर्तन है. यह परिवर्तन किसी स्थायी वस्तु मे ही हो सकता है। जहा स्थिरता नही, वहा असम्बद्ध अनेकता तो हो सकती है, परिवर्तन नही होता। बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहा। कहते है कि कोई चेतना-अवस्था १०-१२ सैकड से अधिक अवधि की नही होती। बुद्ध की हालत मे करोडो अवस्थाएं आयी और गयी। यदि इनसे अलग, कोई स्थायी वस्तु विद्यमान न थी, तो वास्तव मे करोडो बुद्ध हुए, जिनका निवास भी करोडो शरीरो मे हुआ। इन करोडो का ज्ञान साझा कैसे हो गया? इस कठिनाई की ओर हम पहले सकेत कर चुके है।

बुद्ध बार-बार कहता है: 'जो बना है, वह टूटेगा, जो कुछ मिश्रित है, वह अस्थिर है।' प्राकृत पदार्थो मे, किसी मिश्रित पदार्थ को तोडते जायं, तो कही जाकर रुकना पड़ेगा, और उससे आगे तोड़ने का कोई अर्थ ही नही होगा। मिश्रित के प्रत्यय मे ही सरल, अन्तिम अणुओं का अस्तित्व निहित है।

आत्मा के सम्बन्ध मे तो तोड-फोड का जिक्र करना ही निरर्थक है।

निरपेक्ष अध्यात्मवाद

१. निरपेक्ष अध्यात्मवाद क्या है ?

आत्मा के स्वरूप-निरूपण के सम्बन्ध में हम दो मतों का अध्ययन कर चुके है। एक विचार के अनुसार, जिसका साख्य और डेकार्ट समर्थन करते है, आत्मा द्रव्य है, और असंख्य आत्मा विद्यमान है। दूसरे विचार के अनुसार जिसका समर्थन बौद्ध दार्शनिक और ह्यूम करते है, द्रव्य का कोई अस्तित्व नही, संसार मे घटनाएं होती है, और उनके छोटे-छोटे समूहों को हम आत्मा का नाम दे देते है। आत्मा 'नाम' और 'रूप' से अधिक कुछ नही। अब हम एक ऐसे विचार की ओर आते है, जो ऊपर के दोनो विचारो को कुछ अश मे स्वीकार करता है, और कुछ अंश में अस्वीकार करता है। इस विचार को 'निरपेक्ष अध्यात्मवाद' कहते है। यह द्रव्य का अस्तित्व मानता है, परन्तु यह नही मानता कि अनेक तत्व द्रव्यत्व रखते है। इसके अनुसार एक ही द्रव्य है, और शेष जो कुछ भी है, उस द्रव्य का प्रकटन या विवर्त्त है। स्पीनोजा ने भी एक द्रव्य को ही माना था, परन्तु चिन्तन और विस्तार दोनों को, इसके गुणों की स्थिति मे, समान पद दिया था। निरपेक्ष अध्यात्मवाद चेतना को प्रमुख स्थान देता है, और अकेले द्रव्य को 'सब्स्टैन्स' नही, 'सब्जेक्ट' के रूप मे देखता है। दूसरे मत से निरपेक्ष अध्यात्मवाद इस बात मे मिलता है कि संसार मे अनेकता या विविधत्व विद्यमान है, परन्तु यह नही मानता कि जो कुछ है, वह निराश्रय है।

इस सम्बन्ध मे, दो दार्शनिको का काम विशेष विचार का पात्र है। ये हीगल और शंकराचार्य है। हीगल इस अकेले द्रव्य को 'एब्सोल्यूट' का नाम देता है, शंकर, भारतीय परम्परा के अनुक्रमण मे, इसे 'ब्रह्म' कहता है। वर्तमान अध्याय मे, हमारा विचार-विषय जीवात्मा है। इसकी स्थिति 'एब्सोल्यूट' या 'ब्रह्म' के सम्बन्ध मे क्या है ? पहले निरपेक्षवाद को, जैसा इसे हीगल ने समझा था, लेगे।

२. अध्यात्मवाद के रूप

अध्यात्म के दो प्रमुख रूप है :—

(१) तात्विक अध्यात्मवाद

(२) ज्ञानात्मक अध्यात्मवाद।

तात्विक अध्यात्मवाद कहता है कि ब्रह्माण्ड मे जो कुछ है, चिदात्मक है। जो कुछ अनात्मक दिखायी देता है, वह आभास-मात्र है, और आभास किसी चेतन की चेतना ही है। जैसा हम देख चुके है, बर्कले ने इस विचार का समर्थन किया। यह विचार प्रकृतिवाद का निषेध करता है।

ज्ञानात्मक अध्यात्मवाद प्राकृत जगत के अस्तित्व से इन्कार नही करता। यह केवल इतना कहता है कि वाह्य वस्तुओ को जिस रूप-रंग मे हम देखते है, उसे निश्चित करने में हमारे मन का भी हाथ होता है। हमारा अनुभव ही अनुभव के विषय में परिवर्तन कर देता है, और हम यह नही कह सकते कि इस अनुभव के पूर्व इन वस्तुओं का अस्तित्व था या नही; और यदि था, तो उसका रूप क्या था? इसे एक दृष्टान्त से कुछ स्पष्ट करते है।

मै ऐनक का प्रयोग करता हूं : निकट देखने के लिए, और दूर देखने के लिए। जब ऐनक उतारता हू, तो वस्तुओं को उसी हालत और क्रम में देखता हूं, इस भेद के साथ कि ऐनक का प्रयोग दृष्ट पदार्थों को अधिक स्पष्ट दिखाता है। अब विशेष निरीक्षण के लिए ऐसी ऐनकें भी बनी है, जो पदार्थो को उलटा दिखाती है, या उनकी दिशा को बदल देती है। इनके प्रयोग से मनुष्य वृक्षों के मूल को ऊपर और तनों और शाखाओं को नीचे आता देखता है; या जो कुछ दाये था, वह उसे बायें प्रतीत होता है। अब कल्पना करे कि जो ऐनक हम लगायें है, वह आरम्भ से ही हमारे नाक से जुडी है, और उतर नही सकती। इस स्थिति मे हम यह जान ही नही सकते कि ऐनक के अभाव में हम पदार्थों को किस रूप मे देखते।

पीली ऐनक मे से देखें, तो सारी चीजें पीली दिखायी देती है, नीली ऐनक मे से नीली दिखायी देती है। काट कहता है कि हम वाह्य पदार्थों को अनिवार्य रूप मे, मानसिक ऐनक मे से देखते है, और इसलिए, उनके वास्तविक रूप को जान नही सकते। मानसिक ऐनक का उतार देना हमारे लिए संभव ही नही, हमे इसी पर सन्तुष्ट होना पडता है कि पदार्थो के अनुभूत रूप को, अपने व्यवहार के लिए, उनका वास्तविक रूप समझ लें।

ज्ञानात्मक अध्यात्मवाद 'यथार्थवाद' का विरोध करता है। यथार्थवाद कहता है कि हमारा देखना न देखना पदार्थों के रूप-रंग मे कोई भेद नही करता। जो कुछ विद्यमान है, वही हमें दिखाई देता है। हमारा प्रत्यक्ष ऐसे कैमरे का काम है, जो कभी असत्य नही कहता।

यहां हमारा सम्बन्ध तात्विक अध्यात्मवाद से है। निरपेक्ष अध्यात्मवाद एक ही चेतन सत्ता को मानता है, और अनेक जीवात्माओं को, जिन्हें हम 'मै', 'तू', और 'वह' कहते है, उस पूर्ण सत्ता के अशों या विवर्तों के रूप में देखता है। हीगल और शंकर के अतिरिक्त, कई अन्य विचारक भी अध्ययन के पात्र है, परन्तु एक आरम्भिक विवेचन मे उन्हे छोडना पडता है।

३. हीगल का मत

नवीन अध्यात्मवाद पर हीगल का अपूर्व प्रभाव पडा है। कही-कही अन्य विचारको के विचार हीगल के विचारो से भिन्न है, परन्तु इन भेदो के होते हुए भी नवीन तात्विक अध्यात्मवाद प्रायः हीगल का मत ही समझा जाता है।

हम ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा बाह्य पदार्थों के गुणो को जानते है। जब कोई मनुष्य दो पदार्थों के सम्बन्ध को निर्णय के रूप मे वर्णन करता है, तो हम इस निर्णय को यथार्थ स्वीकार करते है, या इसे असत्य समझ कर अस्वीकार करते है। कभी ऐसा भी होता है कि हम इसे स्वीकार या अस्वीकार करने के अयोग्य होते हैं, और अपनी राय को अनिश्चित अवस्था मे रखते है। यह अवस्था सन्देह की अवस्था है। जब हमे कुछ करना होता है, तो हम क्रिया के विविध पहलओ की जाच करते है, और इस जाच के फलस्वरूप निश्चय करते है। इन सब क्रियाओ के साथ अनुभूति का अंश भी मिला होता है। इन अवस्थाओ को, समष्टि रूप मे, हम व्यवित की ज्ञान-धारा कहते है। व्यक्तियों का भेद इसलिए है कि कुछ अवस्थाए, अपनी अन्तरंग निकटता और लगाव के कारण, एक विशेष समूह बनाती है, और इस प्रकार के अन्य समूहो से अलग-थलग सी रहती है। सुविधा के लिए कल्पना करे कि ऐसे एक करोड समूह है, और प्रत्येक समूह मे १००० अवस्थाए है। सारी अवस्थाओ की सख्या, जिनमे जीवित चेतनो का वर्तमान और भूत दोनो सम्मिलित होगे, १००० करोड होगी। इस बडे समग्र को हम तीन दृष्टिकोणो से देख सकते है—

(१) ये अवस्थाएं एक दूसरे से जुडी है, परन्तु उनमे किसी प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध नही।

यह ह्यूम का मत है।

(२) इन अवस्थाओ मे सम्बन्ध है, परन्तु यह सम्बन्ध परिवार के नमूने का है। कुछ अवस्थाएं एक कुटुम्ब के सदस्यो की भाति गठित होती है; कुछ अन्य अवस्थाएं एक और कुटुम्ब बनाती है। इन कुटुम्बों को हम व्यक्ति का नाम देते है।

यह साधारण मनुष्य का मत है।

(३) जैसे साधारण मनुष्य ह्यूम से आगे जाता है, और सारी अवस्थाओ को, एक दूसरे से असम्बद्ध समझने की जगह, उन्हे अनेक व्यक्तियो की अवस्थाओं में गठित करता है, वैसे ही हीगल साधारण मनुष्य से आगे जाता है, और १००० करोड अवस्थाओ को एक ही समूह मे गठित करता है। हीगल के विचार मे, ससार मे जो कुछ भी है, या हो रहा है, एक ही समूह का अंश है। व्यक्तियो का भेद आभास-मात्र है। सारी अवस्थाएं 'एब्सोल्यूट' या निरपेक्ष का भाग है। मनुष्यो की स्थिति अवस्थाओं की स्थिति ही है।

'एब्सोल्यूट' अपने आपको व्यक्त करता है। किसी वाह्य दबाव के कारण नही, क्योकि इसके बाहर इसके अतिरिक्त तो कुछ है ही नही। 'अन्दर'-'बाहर' का भेद अल्पो मे होता है; समग्र मे नही हो सकता। 'एब्सोल्यूट' का विकास उसके स्वभाव मे ही निहित है, वह इस विकास के बिना रह ही नही सकता।

इस विकास मे प्रथम मजिल जड प्रकृति की है। दूसरी मजिल मे प्रकृति सजीव बनती है। जड प्रकृति की अपेक्षा वनस्पति 'एब्सोल्यूट' को उत्तम रीति से व्यक्त करती है। तीसरी मजिल मे चेतन प्राणी प्रकट होते है। चेतना मे ऊंचा पद बुद्धि का है। इस समय तक 'एब्सोल्यूट' का सर्वोच्च प्रकटन बुद्धि है। हीगल इसे अन्तिम प्रकटन समझता है, और इसलिए 'एब्सोल्यूट' को 'मन' के रूप मे देखता है।

'एब्सोल्यूट' के दो प्रमुख चिह्न है :—

१. समग्रता

जो कुछ भी है, एब्सोल्यूट मे सम्मिलित है। इसके बाहर, इससे अलग, कुछ भी नही।

२. सामंजस्य

एब्सोल्यूट मे विरोध का लेश भी नही। शेष जो कुछ है, विवर्त्त या प्रकटन है। ब्रैडले, जिसे नवीन काल का सबसे बडा अग्रेज अध्यात्मवादी समझा जाता है, कहता है कि प्रत्येक प्रकटन विरोध-ग्रस्त है; केवल निरपेक्ष ही आन्तरिक विरोध से बचा हुआ है।

विवर्त्तो या प्रकटनों मे, इन दोनो अशों के सम्बन्ध मे भेद है, और, इस भेद की नीव पर, हम उत्कृष्ट और निकृष्ट , ऊंचे और नीचे का भेद करते है। जितना किसी व्यक्ति मे 'समग्रता' और 'सामंजस्य' के अश अधिक है, उतना ही उसका पद सृष्टि मे ऊंचा है। एब्सोल्यूट का तत्व 'मन' है; इसलिए जितना किसी मनुष्य मे बुद्धि का उत्थान होता है, उतना ही वह एब्सोल्यूट का अच्छा विवर्त्त है।

४. हीगल के मत की कठिनाइयां

साधारण मनुष्य सृष्टि, जीवात्मा और परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है, और इन्हे समझने के लिए ही तत्व-ज्ञान की सहायता चाहता है। दार्शनिकों में बहुधा सरलता की ओर अधिक झुकाव होता है। इस झुकाव के प्रभाव में पहले प्रकृति और आत्मा में से एक को अलग करने का यत्न होता है। प्रकृतिवाद आत्मा को प्राकृत परिवर्तनों का फल बताता है; अध्यात्मवाद प्रकृति को मानसिक अवस्थाओं मे बदल देता है। हीगल को दो अन्तिम तत्व भी अधिक प्रतीत होते है, और वह एब्सो-ल्यूट को ही अकेली अन्तिम सत्ता कहता है।

हमे सरलता के पक्ष या विपक्ष से आरम्भ नही करना चाहिए। हमें तो देखना है कि मानव-अनुभव का सन्तोषजनक समाधान क्या है।

हमारा अनुभव अनेकवाद की पुष्टि करता है।

हमारा जीवन सामाजिक जीवन है। इसमे हम अनेक सम्बन्धों में अन्य पुरुषों के सम्पर्क मे आते हैं। हम न उन्हे, और न अपने आपको विवर्त्तों के रूप मे देख सकते हैं। एक ही चेतन की अवस्थाओ के रूप मे देखना तो और भी कठिन हो जाता है। एक विद्यार्थी परीक्षा में बैठता है। दस-बारह परीक्षक उसके काम की जांच करते है, और अपनी जाच का परिणाम विश्वविद्यालय के दफ्तर मे भेज देते हैं। विद्यार्थी पास हुआ है, या नही, परन्तु उसे अभी इसका ज्ञान नही। परीक्षको मे से प्रत्येक को एक पत्र की बाबत पता है; दूसरो की बाबत पता नही। दफ्तर में कई पुरुषो को, यदि वे चाहे, इसका पता लग सकता है। परीक्षको को किसी विशेष विद्यार्थी के पास-फेल होने मे कोई दिलचस्पी नही। स्वय विद्यार्थी के लिए वर्ष की परीक्षा मे कोई महत्व की बात है, तो उसका पास होना ही है। इन पुरुषो की मान-सिक अवस्थाएं एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं। स्थिति के दो समाधान हो सकते हैं: एक यह कि ये सब मनुष्य स्वतन्त्र सत्ता हैं; दूसरा यह कि वे सब एक ही सत्ता की अवस्थाए है। पहिला समाधान अधिक सन्तोषजनक प्रतीत होता है। सारा सामा-जिक व्यापार इसी धारणा पर आश्रित है।

(२) हीगल के मतानुसार, मानव जाति का इतिहास, जो विश्व के विकास का भाग है, निरपेक्ष का प्रकटन है। यह विकास अव्यक्त का व्यक्त होना है; इसमें किसी नूतनता के लिए स्थान नही। क्या हम मानव-इतिहास को इस रूप में देख सकते है? अन्य शब्दो मे हमे देखना है कि जो कुछ अभी तक हो चुका है, जो अब हो रहा है, उसमें मनुष्य की स्वाधीनता का हाथ है, या नहीं? तत्व-

ज्ञान की प्रत्येक शाखा को बताना चाहिए कि स्वाधीनता की बाबत उसका मत क्या है।

कुछ लोग कहते हैं कि स्वाधीन क्रिया का अस्तित्व आभास-मात्र है। विलियम जेम्स का विचार है कि अपने आपको दृष्ट क्रिया मे प्रकट करना चेतना का स्वभाव ही है। जब मुझे उठ कर बाहर जाने का ख्याल आता है, तो किसी एक के अभाव में, मैं स्वाभाविक ही ऐसा करने लगता हूं। क्रिया हो चुकने के पीछे कुछ शारीरिक संवेद होते है; उन्हें प्रयत्न का नाम दे देता हूं। हमारा सामान्य अनुभव इस विचार के विपरीत है। प्रयत्न का बोध क्रिया हो चुकने पर नही होता; उसके होते हुए होता है। बहुतेरी हालतों में, क्रिया ऐसे प्रयत्न का फल दिखाई देती है। निरपेक्ष अध्यात्मवाद के अनुसार, मनुष्य शतरंज खेलता नही; शतरज का मोहरा है, जिसे एब्सोल्यूट अपने खेल मे बरत रहा है।

मानव जाति का इतिहास, सौर्य-मण्डल के विकास की तरह, आरम्भ से ही निश्चित नही था। जिस क्रम से यह चला है, उसमे परिवर्तन होना सम्भव था। सामान्य दिशा मे परिवर्तन न होता, तो भी ब्यौरा मे अनेक परिवर्तन हो सकते थे। हम भूगर्भ विद्या का अध्ययन करते है, तो इस धारणा से आरम्भ करते है कि पिछले दस हजार या दस लाख वर्षों मे जो कुछ हुआ है, वह नियम-बद्ध प्राकृत शक्तियो का खेल था। मानव-इतिहास के अध्ययन मे, हम इस धारणा के साथ चलते है कि कुछ अंश मे यह इतिहास मनुष्यो के स्वाधीन कर्मों का फल है। कुछ लोग मानव-इतिहास को महापुरुषो के जीवन-चरित्र के रूप मे ही देखते है। जो लोग इतनी दूर नही जाते, वे भी यह नही मान सकते कि कपिल, कणाद, अफलातू, अरस्तू, अशोक, नेपोलियन आदि ने मानव-इतिहास के बनाने मे कुछ किया नही, वे शतरंज के मोहरों की तरह निष्क्रिय साधन ही थे।

(३) हमारे प्रयत्न का बडा भाग जीवन-निर्वाह के लिए होता है। इसका अर्थ यह है कि हम अपने आपको बदलते हुए वातावरण के अनुकूल बनाने मे लगे रहते है। परन्तु जीवित रहने के साथ, हम जीवन-स्तर को ऊचा करना भी चाहते हैं। इस पथ मे कुछ बाधाए आती है, जिन्हे दूर करना होता है। सबसे बडी बाधा बुराई या अभद्र है। यह अनेक रूपों मे व्यक्त होती है। इनमे प्रमुख दु:ख, अज्ञान और नैतिक अभद्र हैं। नैतिक अभद्र या पतन इनमे सबसे भयावनी बुराई है। यह बुराई कहा से और क्यों आ पहुंची है?

निरपेक्ष अध्यात्मवाद के अनुसार, सारी सत्ता एब्सोल्यूट की है; इसलिए बुराई भी उसी का अंश है। इस कठिनाई मे बचने के लिए कुछ लोग तो कह देते है कि बुराई

का वास्तविक अस्तित्व है ही नही, यह केवल सीमित दृष्टि-कोण अपनाने का फल है। संगीत मे कुछ ध्वनि ऐसी भी होती है, जो राग नही, निरा शब्द या शोर होती है, परन्तु वह संगीत का भाग होती है। मूल्य की जाच करते हुए, किसी भाग को नही, समग्र को देखना चाहिए। एक मनोहर चित्र मे कुछ रेखाए ऐसी होती है, जिनमे अपना कोई सौन्दर्य नही। इस पर भी ये सुन्दर चित्र का आवश्यक अंश होती है। इसी तरह, अध्यात्मवाद के अनुसार, बुराई का भी मूल्य है, यह भलाई या भद्र के मूल्य को दर्शाने और इसे बढाने का साधन है। सारे विश्व को देखे, तो सब ठीक है, अल्प को देखने पर ही भलाई-बुराई का भेद प्रतीत होता है। कठिनाई यह है कि बुराई अचेतन रेखाओ और शब्दो के रूप मे ही प्रकट नही होती। यदि देखने वाला निरपेक्ष ही हो, तो वह मेरी चीख-पुकार को समग्र के भद्र का अंश समझ सकता है, परन्तु मै भी तो अपनी चीख-पुकार को सुनता हू। ध्वनि की अमधुरता और रेखाओ की कुरूपता उन्हे बेचैन नही करती। मै तो उनकी भाँति अपने दु:ख की ओर से उदासीन नही हो सकता। मेरे लिए यह तसल्ली की बात नही कि मेरी चीख-पुकार, समग्र के अंश के रूप मे, निरपेक्ष को भली लगती है।

नैतिक बुराई की ओर से हम उदासीन नही हो सकते। अनेकवाद का समाधान यह है कि भद्र-अभद्र का भेद वास्तविक है, और नैतिक अभद्र हमारी स्वाधीन क्रिया का फल है। हमारी क्रिया के लिए, विस्तृत सीमाएं निश्चित है, परन्तु, उन सीमाओ मे, हम चुन सकते है—चाहे भद्र करे, चाहे अभद्र करे।

निरपेक्ष अध्यात्मवाद की अपेक्षा, आत्मिक अनेकवाद बुराई का अच्छा समाधान प्रस्तुत करता है।

५. शंकर का सिद्धान्त : आभासवाद

प्राचीन चीन का दार्शनिक चुआग चऊ लिखता है :—

'एक बार मै, चुआग चऊ, सोया, और मैने स्वप्न मे अनुभव किया कि मै एक तितली हूं, जो इधर-उधर उड रही है, और हरएक दृष्टिकोण से तितली है। मुझे तितली की स्थिति मे ही अपने सुख का बोध था; मुझे यह ज्ञान न था कि मै चुआग चऊ हूं। अचानक मेरी नीद खुल गयी, और मैने देखा कि मै अपना पुराना स्वत्व, चुआग चऊ, ही हू। अब मुझे यह पता नही कि मै उस समय मनुष्य था, और अपने आपको स्वप्न मे तितली समझता था, या मै अब तितली हूं, जो अपने आपको मनुष्य समझ रही है।'

चुआग चऊ ने मायावाद का रोचक शब्दों मे बयान किया है। जैसा हम देख

चुके है, गौडपाद ने भी इस बात पर जोर दिया था कि हमारे पास स्वप्न और जागरित मे भेद करने के लिए कोई निश्चित कसौटी नही। हम समझते है कि बाह्य जगत वास्तव मे अमानवी, स्थायी वस्तुओ का बना है। सम्भव है कि हम जिस अवस्था को जागरण कहते है, वह भी स्वप्न ही हो। आभासवाद केवल प्राकृत जगत को ही कल्पना मात्र नही बताता, कल्पना करने वाले जीवात्मा को भी कल्पना ही बताता है। दृष्ट और द्रष्टा दोनो ही कल्पित है। इतनी तसल्ली अवश्य मिलती है कि हम अच्छी सगत मे है। हमारी तरह, ईश्वर भी आभास के अन्तर्गत ही है। अन्तिम सत्ता केवल ब्रह्म की है।

इस मत का, या इससे मिलते-जुलते मत का, प्रसार भारत मे अनेक वेदान्ती विचारको ने किया है। शकराचार्य का नाम इनमे प्रमुख है। हम ब्यौरात्मक भेदों मे नही पडेगे, और आभासवाद के व्यापक विवरण पर सन्तोष करेगे।

६. माया का प्रत्यय

हम ससार मे भेदो की बडी मात्रा और बडी सख्या देखते है। ब्रह्म तो एकरस था, यह विभिन्नता कैसे आ गयी? आभासवाद, निरपेक्ष अद्वैत की नीव पर, इस विभिन्नता का समाधान नही कर सका। भासमान जगत के समाधान के लिए, इसने, ब्रह्म के साथ, 'माया' को प्रस्तुत किया है। यह माया क्या है? इसके विषय मे बहुत मतभेद है। कुछ विचारक इसे ब्रह्म की शक्ति बताते है, जो उसमे स्वभाव से ही मौजूद है, और भासित जगत को प्रकट करती है। अन्य विचारको के मत मे माया ब्रह्म की शक्ति नही, अपितु उसकी शक्ति पर एक रोक है। इस रोक के अभाव मे, ब्रह्म अपनी अकेली हस्ती मे ही मस्त रहता। माया की शक्ति धीरे-धीरे कम हो रही है, और इसका पूर्ण रूप मे समाप्त हो जाना सम्भव है। एक तीसरे विचार के अनुसार, माया ब्रह्म की शक्ति या इस शक्ति पर रोक नही, यह प्रकृति का ही दूसरा नाम है। यह विचार साख्य और वेदान्त सिद्धान्तो का मेल करने का यत्न प्रतीत होता है।

इस विचार के अनुसार, ससार की रचना और इसके विकास मे दो तत्वो का दखल है। साख्य इन्हे पुरुष और प्रकृति का, और वेदान्त ब्रह्म और माया का नाम देता है। दोनो के दृष्टिकोण मे प्रमुखता का भेद है। साख्य के मत मे, पुरुष की दृष्टि पडने पर, मूल प्रकृति का सामजस्य भग हो जाता है, और इसका विकास होने लगता है। वेदान्त के अनुसार, माया से उपहित होकर, ब्रह्म अपने कैवल्य को छोडता है, और एकता के स्थान मे अनेकता प्रकट होती है। पहले विचार के अनुसार परिवर्तन प्रकृति मे होता है, पुरुष की दृष्टि इस परिवर्तन का कारण होती है। दूरेस विचार

के अनुसार,प्रकृति या माया परिवर्तन की प्रेरक होती है, और परिवर्तन ब्रह्म में होता है।

७. ब्रह्म, ईश्वर और जीवात्मा

ऊपर कहा गया है कि माया से उपहित होकर, ब्रह्म ईश्वर और जीव दो रूपों मे भासता है। इस भेद का कारण क्या है?

प्रकृति को हम परिमाण या गुणो के कोणों से देख सकते है। परिमाण के कोण से देखे, तो प्रकृति अगणित भागो मे विभक्त है। जब ब्रह्म उपाधि मे आता है, तो समस्त प्रकृति मे ही नही, इसके अनेक भागो मे भी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब पड़ता है। समस्त प्रकृति मे जो बिम्ब पड़ता है, उससे मिल कर ब्रह्म ईश्वर बनता है; किसी अंश मे जो बिम्ब पडता है, उससे मिल कर वह जीव बनता है। बिम्ब, अपने आप मे, ईश्वर या जीव नही हो सकता; अपने आपमे तो इसकी कोई सत्ता ही नही। मै शीशे के सामने खड़ा होता हू। शीशे के पीछे मुझे एक मनुष्य दिखाई देता है,जिसका रंग-रूप मेरा ही रंग-रूप है। परन्तु मै जानता हूं कि वहा कोई मनुष्य विद्यमान नही। प्रकाश की किरणें मुझसे सम्पर्क कर के शीशे पर पड़ती है, और वहा से लौट कर मेरी आख पर पड़ती है। इसके फलस्वरूप मुझे अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। ईश्वर और जीव की हालत मे स्थिति भिन्न है : इनमें बिम्ब के साथ ब्रह्म भी विद्यमान है।

कुछ विचारक प्रकृति के परिमाण को नही, अपितु उसके गुणो को महत्व देते है। प्रकृति मे तीन गुण है : सत्व, रजस, तमस। सत्व में विशुद्ध और मलीन का भेद किया जाता है। जब ब्रह्म विशुद्ध सत्व मे अपना बिम्ब डालता है, तो ईश्वर के रूप मे व्यक्त होता है; जब मलीन सत्व मे डालता है, तो जीव के रूप में व्यक्त होता है। इस भेद का परिणाम ईश्वर और जीव के ज्ञान और उनकी शक्ति का भेद है। ईश्वर सर्वज्ञ और शक्तिमान है; जीव का ज्ञान और शक्ति अल्प है। कुछ अन्य विचारक विशुद्ध और मलीन सत्व का स्थान विक्षेप और तमस को देते है, और उन्हें ईश्वर और जीव के भेद के लिए उत्तरदायी बनाते है।

हमारा वर्तमान विषय जीवात्मा का स्वरूप है। जो लोग इसे ब्रह्म का आभास मानते है, वे भी एक दूसरे से सहमत नही। उनके विचारों को समझने के लिए, हम एक दृष्टान्त लेते है।

दक्षिण-पूर्व एशिया में सहस्रों छोटे-छोटे द्वीप एक दूसरे के निकट विद्यमान है। ये सब एक दूसरे से अलग है, और चारों ओर से पानी से घिरे है : द्वीप का अर्थ ही यह है। कल्पना करे कि अचानक समुद्र बिलकुल सूख जाता है। अब स्थिति क्या है?

हम एक पर्वत या पर्वतों की एक लड़ी देखते है, जिसकी कुछ ऊची चोटियां समुद्र के तल से ऊपर उठी हुई थीं। पर्वत के जल में डूबा होने के कारण, एक ही पर्वत की चोटिया अनेक द्वीपो के रूप मे दीख रही थी। इसी तरह, एक ब्रह्म, अविद्या से उपहित होकर, अनेक जीवों के रूप मे प्रकट होता है।

पर्वत की चोटिया पर्वत से सयुक्त है। पर्वत को छोड़ कर समुद्र की ओर देखें। समुद्र मे लहर उठती है, और कुछ पानी, उछल कर, कतरों के रूप मे वायु-मंडल में जा पहुंचता है। थोड़ी देर के बाद, वह फिर समुद्र मे आ मिलता है।

इन दोनो मतो में, जीवात्मा ब्रह्म का अश या भाग है, जो अविद्या के कारण ब्रह्म से पृथक प्रतीत होता है।

लहर क्या है ? समुद्र की सतह समतल नही रहती, कुछ भाग ऊचा हो जाता है, और गति करता दिखाई देता है। लहर समुद्र से अलग होने वाला भाग नही; यह उसका विवर्त्त है। कुछ विचारक जीवात्मा को ब्रह्म के प्रकटन के रूप मे देखते है।

इन विचारो को क्रमशः 'विच्छिन्नवाद' और 'विवर्त्तवाद' कहते है।

इन विचारो के अनुसार, जीव मे ब्रह्मत्व विद्यमान है। 'छायावाद' जीव को इस गर्व से वंचित कर देता है। इसके अनुसार, जीव ब्रह्म का बिम्बमात्र ही है। इस सम्बन्ध को सूर्य और उसके बिम्बों की उपमा मे स्पष्ट किया जाता है। सूर्य एक है, परन्तु अनेक जलाशयों मे उसके बिम्ब पड़ते है, और सब सूर्य ही भासते है।

किसे भासते है ? बिम्ब आप तो कुछ जानते नही; सूर्य की बाबत कुछ कह नही सकते। हम तो यहा विचार ही जीवों के अनुभव की बाबत कर रहे है। ये चेतन जीव निरे बिम्ब कैसे हो सकते है ?

८. हीगल का मत और आभासवाद

हीगल के निरपेक्ष अध्यात्मवाद और भारत के आभासवाद मे कुछ समानता है, और कुछ असमानता भी है।

(१) हीगल का मूल तत्व एब्सोल्यूट और ब्रह्म दोनो चेतन है। दोनो मत प्रकृतिवाद का निषेध करते है।

(२) एब्सोल्यूट और ब्रह्म दोनो अपने कैवल्य को छोड़ते है, और विकास-क्रम को आरम्भ करते है। एब्सोल्यूट अपने स्वभाव से विवश हो कर ऐसा करता है; ब्रह्म माया से प्रेरित हो कर करता है।

(३) दोनों हालतों में विकास का अन्त त्रुटि और अपूर्णता का समाप्त होना है। हीगल समष्टि (मानव समाज) की पूर्णता को अन्तिम गन्तव्य बताता है; भारत

के विचारक व्यक्ति के मोक्ष को व्यक्ति का ध्येय बताते है। भारत के विचार मे एक पुरुष के मोक्ष और उसके साथियो के बन्ध मे कोई विरोध नही। हीगल सारे समाज की उन्नति को महत्व देता है।

(४) मानव जाति की पूर्णता के लिए, जाति का सामूहिक यत्न आवश्यक है; व्यक्ति के मोक्ष का साधन उसका अपना प्रयत्न है। हीगल कर्म पर बल देता है, भारत के आभासवादी अविद्या को बन्ध का कारण समझते है, और ज्ञान या विवेक को मोक्ष का साधन बताते है।

पंचम भाग

धर्म-विवेचन

आस्तिकवाद के पक्ष में

१. अनुभव और आस्तिकवाद

तीसरे और चौथे भागों मे हमने ब्रह्माड और आत्मा के सम्बन्ध मे कुछ विचार किया है। इन दोनो के अतिरिक्त तीसरा विषय जिस पर दार्शनिक विचार करते रहे हैं, परमात्मा का अस्तित्व है।

कुछ लोग परमात्मा की सत्ता से इन्कार करते है। वे कहते है कि जिस प्रकार की सृष्टि मे हम है, उसके कुछ चिह्न ऐसे है कि वह शक्तिमान और पवित्र आत्मा की रचना प्रतीत नही होती। वे यह भी कहते है कि आस्तिकवाद-प्रसार तो शान्ति का कर्ता है, परन्तु अमल मे अशान्ति और कलह का कारण बना रहा है। कुछ लोग इतनी दूर नही जाते, क्योकि नास्तिकवाद को भी आस्तिकवाद की भाति ऐसी धारणा की घोषणा करनी पडती है, जिसमे किसी प्रकार का सन्देह हो नही सकता। वैज्ञानिक मनोवृत्ति सिद्धान्तवादी नही होती, और अपनी धारणा को बदलने के लिए सदा उद्यत रहती है। फ्रान्स के प्रसिद्ध वैज्ञानिक लाप्लास ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी, तो नेपोलियन ने उससे कहा—'लाप्लास! तुमने द्यौ लोक पर पुस्तक लिखी है, और उसमे परमात्मा का जिक्र तक नही किया।' लाप्लास ने कहा : 'भगवन! मुझे उस प्रतिज्ञा की आवश्यकता नही हुई।' लाप्लास के उत्तर मे विज्ञान का दृष्टिकोण प्रकट किया गया है। असदिग्ध तथ्य तो हमारा अनुभव है। इसके समाधान के लिए, हम जो कुछ कहते है, वह प्रतिज्ञा का पद ही रखता है; और प्रत्येक प्रतिज्ञा को अपने से बेहतर प्रतिज्ञा के लिए स्थान खाली करने के लिए उद्यत रहना चाहिए। यह बेहतर प्रतिज्ञा भी सामयिक सत्य ही समझी जा सकती है। विज्ञान के लिए, कोई प्रतिज्ञा जितनी सरल हो, उतना ही उसका मूल्य अधिक होता है। भौतिक विज्ञान अपने काम के लिए, प्रकृति और गति (अब निरी गति) का आश्रय लेना ही पर्याप्त समझता है। लाप्लास के कथन के अन्तिम भाग का अभिप्राय भी यही था, कि नक्षत्रों के गति-क्रम को समझने के लिए, परमात्मा के प्रत्यय को विवाद में लाने की आवश्यकता नहीं।

विज्ञान का दृष्टिकोण समझ में आ सकता है। लाप्लास यह जानना चाहता था कि सूर्य, तारा आदि के घूमने की रीति क्या है। इस रीति में गति करना किसी बाह्य शक्ति के अधीन होता है, या नही ? यह प्रश्न उसके अन्वेषण का भाग न था। जब मुझे किसी यन्त्र की क्रिया का वर्णन करने को कहा जाता है, तो मेरे लिए यह कहना असंगत है कि यन्त्र किसने बनाया और क्यों बनाया।

विज्ञान का दृष्टिकोण संकुचित है, विज्ञान ने अपनी इच्छा से इसे संकुचित किया है। तत्व-ज्ञान अपने लिए ऐसी कोई रोक नही लगाता। इसके लिए किसी तथ्य का मूल्य उसके अर्थ मे है। हम एक से अधिक बार कह चुके है कि तत्व-ज्ञान मानव-अनुभव का समाधान है। अपने काम में, तत्व-ज्ञान अनुभव के किसी भाग को भी विवेचन का अपात्र नही समझता, और अनुभव के किसी विशेष पक्ष को नही, अपितु इसे, इसकी समग्रता मे जानना चाहता है।

हमारे लिए प्रश्न यह है कि क्या मानव-अनुभव मे कोई ऐसे चिह्न पाये जाते है, जो ऐसी सत्ता की ओर संकेत करते है, जो विश्व का आश्रय है। जैसा हमने पहले कहा है, हम बाहर की ओर देखते है, अन्दर की ओर देखते है, और ऊपर की ओर देखते हैं। क्या इन तीनो प्रकार के अनुभव मे, हमे विश्वास के योग्य कोई सकेत मिलता है ?

२. प्रमाण

कुछ लोग कहते है—'हमे ऐसे सकेत की आवश्यकता नही, हमे तो अकाटय प्रमाण चाहिए।' यह प्रमाण क्या है ?

प्रमाण का प्रत्यय न्याय, गणित और भौतिक विज्ञान मे प्रसिद्ध प्रत्यय है। न्याय में किसी धारणा को प्रमाणित करने का अर्थ क्या है ?

जब मै कहता हूं कि 'सारे कौए काले है', तो मै यह भी कह सकता हूं कि 'कुछ काले पदार्थ कौए है', न्याय मे, 'कुछ' पद मे 'सभी' भी सम्मिलित है। यह सम्भव है कि विश्व मे, जहा तक हमे इसका ज्ञान है, कौओं के अतिरिक्त कोई काला पदार्थ न हो। जब मै कहता हूं कि 'सारे मनुष्य मरणधर्मा है' तो यह भी कह सकता हूं, कि 'कोई मनुष्य अमर नही।' यहा मै यही करता हूं कि जो अर्थ वाक्य में निहित था, उसे स्पष्ट कर देता हूं। किसी नये तथ्य की बाबत नही कहता। तर्क में मे इसमे आगे जाता हू। मुझे कोई कहता है :—

'भारत के सभी बालिग नागरिक है;
राम और गोपाल भारत के बालिगों मे है।'

मै निःसन्देह कह सकता हूं कि राम और गोपाल नागरिक हैं। यहां भी किसी

नये तथ्य का ज्ञान प्राप्त नही हुआ, जो कुछ दो वाक्यो में निहित था, उसे व्यक्त किया गया है।

गणित में हम क्या करते है ?

कुछ धारणाओ को स्वतः सिद्ध मान लेते है, और फिर देखते है कि अन्य धारणाए उनके अनुकूल है, या नही। हम यह मान लेते है कि यदि क और ख दोनों घ के बराबर है, तो वे एक दूसरे के बराबर भी है। इस धारणा को हम प्रमाणित नही कर सकते। किसी धारणा को प्रमाणित करने का तो अर्थ ही यह है कि उसे उपर्युक्त धारणा और अन्य स्वतः सिद्ध धारणाओ के अनुकूल दिखाया जाय। गणित मे सारा प्रमाण ऐसी धारणाओ पर आश्रित होता है, जो स्वयं प्रमाणित नही हो सकती।

अब विज्ञान की ओर आये। विज्ञान का दृष्टिकोण तो अब यही है कि हम अधिक या न्यून सम्भावना तक पहुंच सकते है, पूर्ण सत्य हमारी पहुंच मे नही। यहा किसी धारणा को प्रमाणित करने का अर्थ यही है कि हम इसे शेष ज्ञान के अनुकूल बता सके। जो लोग न्याय और विज्ञान मे प्रमाण के स्वरूप को नही समझते, परन्तु ईश्वर की सत्ता का प्रमाण मागते है, उन्हे निराश होना पडता है। किसी धारणा को प्रमाणित करना उसे उसके अधिष्ठान पर स्थापित करना है। परमात्मा तो आप सब कुछ का अधिष्ठान है, उसके लिए अधिष्ठान कहा से लाये ? हम यही कर सकते है कि अनुभव को तात्विक दृष्टि से देखे, और यह जानने का यत्न करे कि इसके कुछ चिह्न ईश्वर की सत्ता की ओर विश्वास के योग्य संकेत करते है, या नही।

३. वाह्य जगत और आस्तिकवाद

जब हम वाह्य जगत की ओर देखते है, तो इसमे कुछ प्रमुख चिह्न पाते है। वे चिह्न ये है :—

(१) संसार में जो कुछ दीखता है, वह मिश्रित है। हम मिश्रित पदार्थो को तोड़ते जायं, तो कही रुकना पडता है। उस स्थिति मे पहुच कर हमे अपनी सीमाओं का बोध होता है, हम यह नही समझते कि आगे विभाजन की सम्भावना ही नही रहती; सारे पदार्थ बने हुए दीखते है। ऐसा प्रतीत होता है कि जगत और उसके विविध भाग निर्माण का परिणाम है।

(२) संसार मे निःसीम विविधत्व पाया जाता है, परन्तु इसके साथ एकता भी दिखाई देती है। संसार एक मंडल है, जिसके भाग एक व्यवस्था में स्थित है। प्राकृत पदार्थ एक ही 'अवकाश' में है। कुछ लोग तो अवकाश को प्राकृत पदार्थों की व्यवस्था

के रूप में ही देखते हैं। सारी घटनाएं काल मे व्यवस्थित है। भूमंडल मे बहुत्व या अनेकत्व के साथ एकत्व भी मिला है।

(३) संसार में जो कुछ हो रहा है, वह नियम के अधीन हो रहा है। जहां हमे नियम दिखाई नही देता, वहा भी हम आशा करते है कि ज्ञान की कमी दूर होने पर, नियम का पता लग ही जायगा।

(४) प्राकृत जगत मे हम निर्जीव और सजीव का भेद देखते हैं। जीवन के विशेष चिह्न हैं। जीवन-विद्या या प्राण-विद्या ने विज्ञान की स्वतन्त्र शाखा का रूप पिछली शती मे प्राप्त किया। इस अल्प काल मे ही, इसने अपने लिए गौरव की स्थिति प्राप्त कर ली है।

अब देखे कि इन चारो चिह्नों मे आस्तिकवाद का और कोई संकेत मिलता है, या नही।

(१) ससार के सभी पदार्थ निर्मित है। भवन ईंटो से बनता है। ससार-रूपी भवन की ईंटो को परमाणु कहते हैं। हमारे लिए यह कल्पना करना भी सुगम नही कि परमाणु का परिमाण कितना छोटा है। वैज्ञानिक हमे बताते हैं कि एक मनुष्य के शरीर मे १५,००,००० करोड के करीब घटक या सयूल पाये जाते है; और प्रत्येक घटक मे लगभग इतने ही परमाणु होते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि मैं अपने शरीर के घटको को भारत के ३६ करोड निवासियो मे बाट सकू, तो प्रत्येक को ४१००० से अधिक घटक दे सकूगा। कितने-कितने परमाणु बाट सकूगा, इसका हिसाब पाठक स्वयं कर ले। परमाणु गतिशील हैं। इस गति से ही मिश्रित पदार्थ उत्पन्न होते हैं। नास्तिकवाद सृष्टि के कारण से इन्कार नही करता, केवल इतना कहता है कि हम इस कारण की बाबत कुछ नही जानते। अरस्तू ने सृष्टि के 'प्रथम कारण' को परमात्मा का नाम दिया। जैसा हम देख चुके हैं, प्राचीन परमाणुवादियों के लिए यह एक समस्या थी कि परमाणु अपनी गति मे एक दूसरे से टकराते कैसे हैं। ऐसे सघर्ष के बिना पदार्थों का निर्माण हो ही नही सकता। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए, उन्होंने कहा कि परमाणु गति मे अपनी गति-दिशा को बदल सकते है। इस तरह, उन्ही ने जगत-निर्माण मे, मजबूर होकर, चेतना को प्रविष्ट कर लिया। आस्तिक-वाद कहता है कि निर्माण के लिए निर्माता की, सृष्टि के लिए स्रष्टा की आवश्यकता है। इस हेतु को 'निर्माणात्मक हेतु' कहते हैं।

(२) हमे निर्मित सृष्टि में एकता और नियम दिखाई देते हैं। एकता के कुछ रूप ये हैं :—

सारे पदार्थ एक ही 'देश' में हैं; सारी घटनाएं एक ही 'काल' मे होती हैं।

सारे प्राकृत पदार्थ एक दूसरे से गठित हैं। आकर्षण-नियम के अधीन, प्रत्येक परमाणु अन्य सभी परमाणुओ को खीचता है, और उनसे खीचा जाता है। सारा जगत एक ही मंडल है।

कारण-कार्य सम्बन्ध नियम की व्यापकता को बताता है। जैसा अभी कहा गया है, जहा नियम का भाव दिखाई नही देता, वहा भी हम इसे अपने अज्ञान का फल समझते है। ये एकता और नियम कैसे विद्यमान हो गये?

इसके सम्बन्ध मे कई प्रतिज्ञाएं प्रस्तुत की जा सकती है, और प्रस्तुत की गयी है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद' का आरम्भ भूमंडल की उत्पत्ति, स्थिति, और व्यवस्था की बाबत विचार से होता है। समस्या के समाधान के लिए, निम्न पक्षान्तर प्रस्तुत किये गये है :—

(१) काल
(२) स्वभाव
(३) नियति (अनिवार्यता)
(४) आकस्मिक घटना
(५) भूत (पंच तत्व, मूल द्रव्य)
(६) पुरुष

प्रकृतिवाद परमाणुओ से आरम्भ करता है। जिस रंग-रूप मे हम सृष्टि को अब देखते है, वह इसे कैसे प्राप्त हो गया? एक उत्तर यह हो सकता है कि कुछ न कुछ तो बनना ही था; वर्तमान स्थिति भी एक सम्भावना थी : यह वास्तविकता मे बदल गयी। यह समाधान कोई समाधान नही : यह तो समाधान के अभाव की स्वीकृति है।

प्रकृतिवाद सृष्टि को आकस्मिक घटना नही मानता। इसके अनुसार अस्तित्व के प्रत्यय मे ही वस्तुओ के स्वभाव का ख्याल शामिल है। जब हम कहते है कि कोई पदार्थ सत्ता का भाग है, तो साथ ही यह भी कह देते है कि वह विशेष रूप रखती है। प्रकृति का भी स्वभाव है, यह स्वभाव ही निश्चय करता है कि वह किस रूप में व्यक्त होगी। स्वभाव-नियम को हम इन शब्दो मे प्रकट कर सकते है—'प्रत्येक वस्तु वही है, जो वह है, इससे अलग वह अन्य कुछ नही।' जब हम पूछते है कि प्राकृत जगत वर्तमान स्थिति मे क्यों है, तो यही पूछते है कि यह प्राकृत क्यों है। प्राकृत जगत प्राकृत ही हो सकता है; इससे अधिक हम क्या कह सकते है?

'स्वभाववाद' सृष्टि के समाधान के लिए, प्रकृति से परे नही जाता, 'नियतिवाद' इससे परे जाता है। इसके अनुसार, सृष्टि मे निश्चित क्रम के अनुसार कार्य होता

है, परन्तु यह नियम एक नियन्ता का बनाया हुआ है। यह नियन्ता चेतन है और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए, प्रकृति को इस नियम मे बांधता है। पहली हालत में, नियम आन्तरिक स्वभाव का परिणाम है; दूसरी हालत में, यह बाहरी शक्ति के शासन पर निर्भर है। दूसरा विचार आस्तिकवाद के अनुकूल है।

संसार मे परिवर्तन निरन्तर हो रहा है। यह परिवर्तन निरा अवस्था का बदलना है, या किसी खास गन्तव्य की ओर गति है? यदि यह निरा बदलना है, तो हम सृष्टि को अध्ययन का विषय नही बना सकते। ऐसे अध्ययन का तो हम आरम्भ ही इस धारणा से करते हैं कि सृष्टि मे नियम का राज्य है। सारा परिवर्तन काल मे होता है। जैसा हम देख चुके है, विकासवाद वर्तमान स्थिति को विकास का फल बताता है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने, इस विकास को समझने के लिए, प्रकृति से परे नही देखा; हीगल ने इसे 'निरपेक्ष मन' के प्रकाशन या अभिव्यंजन मे देखा। श्वेताश्वतर उपनिषद की परिभाषा को बरतें, तो हम कह सकते हैं कि संसार के समाधान मे :

नास्तिकवाद 'आकिस्मक घटना' का सहारा लेता है,

परमाणुवाद 'भूत' की ओर देखता है,

हर्बर्ट स्पेन्सर और हीगल दोनो 'काल' की सहायता लेते हैं; परन्तु एक भेद के साथ। हर्बर्ट स्पेन्सर कहता है कि काल की गति ने, प्रकृति के स्वभाव को सृष्टि की वर्तमान स्थिति मे प्रस्तुत कर दिया है; हीगल के अनुसार 'निरपेक्ष मन' के प्रकाशन ने यह मार्ग ग्रहण किया है।

जैसा हम देख चुके है, कुछ विचारको के मत मे, बाहरी जगत का वस्तुगत अस्तित्व ही नही; इस कल्पित जगत का समाधान ढूढना समय का खोना है। प्रत्येक चेतन आत्मा अपने जगत की रचना करती है। उपनिषद मे जो पहले पाच पक्षान्तर समाधान गिनाये हैं, वह अलग अलग या मिलाकर पुरुष का सन्तोषजनक समाधान नही हो सकते, स्वयं पुरुष एक समस्या बना ही रहता है। क्या पुरुष जगत का रचयिता हो सकता है? कौन पुरुष? जगत एक है; पुरुष तो अनेक हैं। प्रत्येक पुरुष अपने जगत की रचना करे, यह सम्भव तो है, परन्तु यह सब जगत एक दूसरे से असम्बद्ध होगें। जैसा हम देख चुके हैं, लाइबनिज ने ऐसी स्थिति की कल्पना की थी : जितने चेतन, उतने ही भिन्न मानवी जगत। ऐसी स्थिति में, कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की बाबत जान नही सकता। परन्तु हम सब साझे जगत में रहते हैं। हमारी अल्प और सीमित शक्ति जगत की रचना नही कर सकती।

जिस प्रश्न के साथ श्वेताश्वतर उपनिषद ने आरम्भ किया है, वह उसके उत्तर में कहता है :—

'पहले पाच पक्षान्तर न अकेले अकेले, न मिलकर सृष्टि का कारण हो सकते हैं, क्योंकि ये पुरुष के अस्तित्व का समाधान नही कर सकते। स्वयं पुरुष भी कारण नही हो सकता, क्योकि वह भी सुख-दुख के सम्बन्ध मे नियमबद्ध है। केवल परमात्मा ही कारण हो सकता है।'

इस हेतु को 'प्रयोजनात्मक हेतु' कहते है।

'निर्माणात्मक हेतु' मे इतना ही कहा था कि सृष्टि के लिए, चाहे वह कैसी भी हो, स्रष्टा की आवश्यकता है। 'प्रयोजनात्मक हेतु' सृष्टि के गुणो या चिह्नो की ओर विशेष ध्यान देता है, और कहता है कि ये चिह्न, भ्रमविहीन रीति से, चेतन स्रष्टा की ओर संकेत करते हैं।

(३) यहा तक हमने प्रायः जड प्रकृति की ओर ही ध्यान दिया है। अब इसे जीवित पदार्थों की ओर फेरे; और देखे कि वे भी हमारी समस्या पर कुछ प्रकाश डालते है, या नही।

चिरकाल से चेतन और अचेतन का भेद लोगो के सामने रहा है। जीवन का स्थान कहा है? कुछ लोग इसे नीचे खीच कर प्रकृति के स्तर पर ले आते है, और इसे प्राकृत शक्ति या एनर्जी के रूप मे देखते है, कुछ इसे ऊपर खीच कर, अधम चेतना समझते हैं। वर्गसा और कुछ अन्य विचारको के काम के फलस्वरूप, अब 'प्राणवाद' एक स्वतन्त्र सिद्धान्त बन गया है। प्राणवाद कई रूपो मे व्यक्त हुआ है।

(१) वर्गसा के विचारानुसार, जगत मे जो कुछ भी हो रहा है, सभी जीवन-शक्ति का खेल है। सजीव और निर्जीव का भेद जाति-भेद नही; केवल जीवन-शक्ति की मात्रा का भेद है। प्रकृति जीवन की अधमतम अवस्था का नाम है।

(२) वर्गसा के मत के प्रतिकूल कुछ प्रकृतिवादी कहते है कि जब प्राकृत एनर्जी परमाणुओ की विशेष व्यवस्था मे, अपूर्व रूप से संतुलित और केन्द्रित हो जाती है, तो उसे जीवन कहते हैं। जब वह तुल्यता और पर्याप्ति कायम नही रहती, तो जीवन भी समाप्त हो जाता है। प्राकृत एनर्जी बिखरी हुई होती है; जहा कही यह केन्द्रीभूत हो जाती है, वहा हम जीवन देखने लगते है।

(३) इन दोनो मतो से भिन्न मत उन लोगो का है, जो जीवन और प्राकृत एनर्जी को दो भिन्न वस्तुएं समझते हैं। इनमे कुछ लोग तो कहते है कि ये दोनों समानान्तर शक्तियां है, और दोनों यन्त्रवाद के नियम के अनुसार काम करती है; कुछ कहते हैं कि जीवन का काम प्राकृत एनर्जी को, जो जीवित पदार्थो में इकट्ठी होती है, उपयोगी दिशा में चलाना है। प्राकृत एनर्जी किसी प्रकार का चुनाव नही करती; जीवित घटक अपनी खुराक का चुनाव करते दिखाई देते हैं। यह चुनाव जाहिर

करता है कि या तो प्रत्येक घटक चेतन है, या किसी चेतन शक्ति के अधीन काम करता है। जीवित पदार्थो मे जो एकीकरण पाया जाता है, वह भी अद्भुत है। सारे अंग एक अंग के उपागों की स्थिति में काम करते प्रतीत होते हैं। हमारी आखें देखती है; कान सुनते है; मेदा खुराक को पचाता है; रक्त उमे प्रत्येक घटक को पहुंचा देता है। सारे अंगों का काम जुदा-जुदा होता है, परन्तु सारा काम शरीर के कल्याण के लिए होता है।

जड पदार्थों की अपेक्षा, जीवित पदार्थो की बनावट और उनकी प्रक्रिया चेतन शासन की ओर अधिक बल से संकेत करती है। जड जगत की रचना और स्थिति, चेतन नियन्ता के बिना, एक पहेली रहती है, जीवित पदार्थो की रचना और स्थिति उससे भी बडी पहेली है।

४. आन्तरिक जगत और आस्तिकवाद

अब बाहर मे हटाकर, अपनी दृष्टि को अन्दर की ओर फेरे। जैसा पहले कह चुके है, जब हम अन्तरग अनुभव की ओर देखते है, तो हमे दो विशेष चिह्न दिखाई देते है :—

(१) वहा हमें पहली बार स्वाधीनता के दर्शन होते है। अन्य मारे पदार्थ नियम के अधीन काम करते है, मनुष्य नियम के प्रत्यय के अधीन भी काम कर सकता है। अन्य पदार्थो के लिए एक से अधिक मार्ग खुले ही नही; मनुष्य के लिए, मार्गों मे चुनाव करना मम्भव है।

(२) मनुष्य तथ्य की दुनिया से निकल कर आदर्शो की दुनिया मे भी पहुच सकता है। आदर्शो का निश्चित करना और उन्हे स्थूल आकार देने का यत्न करना स्वाधीनता का सर्वोच्च प्रयोग है।

हमारी चेतना मे ज्ञान, भाव, और क्रिया प्रधान चिह्न है। इन तीनो के मम्बन्ध मे, आदर्श सत्य, सौन्दर्य, और नैतिक भद्र के रूप मे व्यक्त होता है। अब हमे देखना है कि क्या मत्य, मौन्दर्य और नैतिक भद के प्रत्यय आस्तिकवाद की बाबत कुछ बताते है।

मत्य की खोज करना विज्ञान का प्रमुख काम है; तत्व-ज्ञान सत् के स्वरूप को जानना चाहता है। मन्देहवादी कहता है कि ऐसा ज्ञान हमारी पहुच से बाहर है। वह अपने इम दावे को सत्य समझता है, और इस तरह, इसका आप ही खंडन करता है। यदि हमे सत्य का बिलकुल ज्ञान नही, तो हमे असत्य का ख्याल ही नही आ सकता। हम मत्य के अस्तित्व को स्वीकार करके ही किसी प्रकार की खोज को

आरम्भ करते है। यह भी फर्ज करते है कि हम अपनी खोज मे सफल हो सकते है। विज्ञान और दैनिक अनुभव इस ख्याल की पुष्टि करते है।

सत्य का ज्ञान, पूर्ण ज्ञान, विद्यमान है। कहा विद्यमान है? अल्प आत्माओ मे तो विद्यमान नही। उनमें से कोई आत्मा सन्देह और भ्रम से सर्वथा बचा हुआ नही। यदि पूर्ण सत्य-ज्ञान का कही भाव है, तो पूर्ण आत्मा मे ही हो सकता है। किसी तथ्य या सत्य को वास्तविक रूप मे जानना उसे उस रूप में जानना है, जिस रूप मे वह परमात्मा के ज्ञान मे विद्यमान है।

कुछ दार्शनिको ने परमात्मा के अस्तित्व को परमात्मा के प्रत्यय पर आधारित किया है। हम यहा दो ऐसे दार्शनिको की ओर सकेत करेंगे—ऐन्सेल्म और डेकार्ट।

ऐन्सेल्म ११ वी शती का एक पादरी था। वह विश्वास को धर्म का आधार समझता था, परन्तु यह भी चाहता था कि बुद्धि विश्वास की पुष्टि करे। उसने ईश्वर की सत्ता के पक्ष मे निम्न युक्ति दी :—

'जब हम परमात्मा की बाबत चिन्तन करते है, तो एक ऐसी सत्ता का चिन्तन करते है, जिससे बढकर कोई सत्ता नही। ऐसी सत्ता की हालत की बाबत दो सम्भावनाए है—एक यह कि वह हमारा मानसिक प्रत्यय ही हो, दूसरी यह कि उसका वास्तविक अस्तित्व भी हो। यह तो स्पष्ट ही है कि इन दोनो मे दूसरी सत्ता बडी है। पहली हालत मे परमात्मा केवल मानसिक प्रत्यय है। जब हम इसके साथ वास्तविक अस्तित्व भी जोड देते है, तो पहले ख्याल मे आगे गुजर जाते है। सबसे बडी सत्ता मे वास्तविक अस्तित्व भी सम्मिलित है, इसलिए परमात्मा की वास्तविक हस्ती है।'

डेकार्ट ने ऐन्सेल्म की युक्ति को एक नये रूप मे पेश किया। उसने कहा कि जो कुछ हमे, पूर्ण स्पष्ट रूप मे, किसी सत्ता की सत्य और स्थायी प्रकृति से दिखाई देता है, वह वास्तव मे उसमे मौजूद है। डेकार्ट ने इस नियम को ही सत्य की कसौटी स्वीकार किया था। वास्तविक सत्ता परमात्मा की सत्य और स्थायी प्रकृति मे सम्मिलित है। इसलिए परमात्मा की हस्ती मान्य है।

जो युक्ति डेकार्ट के नाम के साथ अधिक विख्यात रूप मे सम्बद्ध है, वह भावात्मक नही, अपितु मनोवैज्ञानिक है। डेकार्ट कहता है कि हमारे प्रत्ययो मे 'पूर्णता' का प्रत्यय विद्यमान है। इस प्रत्यय का स्रोत हमारे मन मे नही हो सकता, क्योकि हम तो अपूर्ण है, और कोई रचयिता अपने से बडे की रचना नही कर सकता। पूर्णता का प्रत्यय पूर्ण सत्ता से ही उत्पन्न हो सकता है।

गैसेडी और कुछ अन्य आलोचको ने कहा कि हमे पूर्ण सत्ता का प्रत्यय होता ही

नही। हमें अपूर्णता का बोध है। हम हर प्रकार की अपूर्णता को, जिससे हम परिचित हैं, छोड़ते जाते हैं, और इस तरह पूर्णता की कल्पना करते है। इस आलोचन में यह फर्ज कर लिया जाता है कि हम अपूर्णता से परिचित हैं। कैसे परिचित हैं? मौलिक प्रश्न तो यही है। पूर्णता का भला बुरा ज्ञान न हो, तो अपूर्णता का ख्याल मन में उठ ही नही सकता।

इस हेतु को 'भावात्मक हेतु' कहते है।

५. ह्यूम और कांट

ऊपर जो तीन हेतु ईश्वरवाद के पक्ष मे दिये गये है, उनके प्रसिद्ध नाम—भावात्मक हेतु, निर्माणात्मक हेतु, प्रयोजनात्मक हेतु—काट के दिये हुए हैं। इन्हें ही अब प्रमुख हेतु माना जाता है। इनमे प्रयोजनात्मक हेतु अधिक प्रसिद्ध है। डेविड ह्यूम ने इसकी आलोचना मे कहा कि मनुष्यो की बनायी वस्तुओं मे, हम अनेक वस्तुओ को देखने पर, प्रयोजन को देखते है। मेज, कुर्सी, भवन, आदि को देखने के बाद ही, हम घडी के देखने पर उसे प्रयोजन का आकार समझते है। भूमण्डल तो अपने प्रकार की एक ही वस्तु है; इसमे प्रयोजन देखने का हमें अवसर ही नही मिलता। ह्यूम अनुभववाद को उसकी अन्तिम सीमा तक ले गया था। उसके विचार मे अनुमान हमे निश्चितता नही दे सकता। हम किसी घटना को २० बार विशेष स्थिति मे होता देखते हैं, तो आशा करते है कि उसी स्थिति मे, वह २१ वी बार भी होगी। २०० बार होता देखे तो हमारा विश्वास और दृढ हो जाता है, परन्तु रहता तो विश्वास ही है। ह्यूम के विचार मे, अब भी यह सम्भव है कि किसी त्रिकोण की दो भुजाएं मिलकर तीसरी भुजा के बराबर हो, या उससे कम हो। वह बुद्धि के निश्चय को अनुभव की मात्रा पर ही आधारित करता है।

बुद्धि इस स्थिति को स्वीकार नही करती। यदि कोई विकसित बुद्धि रखने वाला प्राणी अचानक किसी नक्षत्र से पृथिवी पर आ पहुंचे, तो वह पहली घडी को देखकर ही उसके विविध भागो के सहयोग को देखेगा, और इसमे प्रयोजन पायगा।

काट ने भी इन हेतुओ को सन्तोषदायक नही समझा। भावात्मक हेतु की बाबत वह कहता है कि परमात्मा की सत्ता का प्रत्यय उसकी वास्तविक सत्ता का पर्याप्त प्रमाण नही। निर्माणात्मक हेतु कारण-कार्य सम्बन्ध पर आश्रित है। कांट कहता है कि हम इस सम्बन्ध को प्रकटनो मे देखते हैं; हम इसे प्रकटनों की दुनिया से परे लागू नही कर सकते। प्रयोजनात्मक हेतु की बाबत काट कहता है कि यह हमें निर्माण करने वाला परमात्मा दे सकता है, जिसके पास निर्माण की सामग्री पहले से मौजूद

हो; शून्य से रचना करने वाला ईश्वर नही दे सकता। कांट जिन लोगों के लिए लिख रहा था, वह निर्माता ईश्वर मे नही, अपितु रचयिता ईश्वर में ही विश्वास करते थे।

काट स्वयं नैतिक हेतु का सहारा लेता है। काट के सिद्धान्त में द्वन्द्व का प्रत्यय प्रधान है। उसके विचार में, विशुद्ध बुद्धि स्वाधीनता, अमरत्व, और परमात्मा की बाबत निश्चित रूप से बता नही सकती, क्योकि उसका कार्य-क्षेत्र प्रकटनों की दुनिया तक सीमित है। व्यवहारिक बुद्धि हमे इनकी बाबत कुछ बता सकती है।

काट मानव अनुभव मे, नैतिक चेतना को प्रथम स्थान देता है। जो विचार इस चेतना के अनुकूल है, वह मान्य है; जो इसके अनुकूल नही, वह अमान्य है। नैतिक चेतना परम श्रेय मे दो अशो को रखती है—नैतिक भद्र और पूर्ण सुख। नीति मे कांट निष्काम कर्म पर बहुत बल देता है, परन्तु यह भी कहता है कि ऐसी व्यवस्था मे जहां न्याय का शासन है, नेकी और सुख को, बुराई और दुख को, एक साथ चलना चाहिए। परन्तु स्थिति यह है कि यह मेल बहुतेरी हालतों में होता नही: भले पुरुषो को दुःख मिलता है, और पापी मजे मे रहते हैं। हम अपनी अल्प शक्ति से यह मेल नही करा सकते। नैतिक बोध की माग यह है कि इन का मेल हो। इसलिए किसी ऐसी सत्ता की आवश्यकता है, जो अपनी शक्ति से ऐसा मेल कराने मे समर्थ हो। यह परमात्मा के अस्तित्व मे काट का 'नैतिक हेतु' है।

६. 'देव का काव्य'

काट ने अनुभव मे नैतिक चेतना को प्रथम स्थान दिया, हीगल ने निरपेक्ष के विकास मे बुद्धि को सबसे ऊंचे स्तर पर देखा। इस भेद का परिणाम यह है कि जहा हीगल धर्म को तत्व-ज्ञान से मिलाता है, वहा काट इसे नीति के साथ मिलाता है। उसके विचार मे, जब कोई मनुष्य अपने कर्त्तव्यो को ईश्वरी आदेशो के रूप में देखता है तो, उसके लिए, नीति धर्म ही बन जाती है। कुछ लोग ज्ञान और कर्म की अपेक्षा, भाव को धार्मिक चेतना मे अधिक महत्व देते हैं। भाव सौन्दर्य का भक्त है। इन लोगो के विचार मे, जगत में सौन्दर्य का अस्तित्व ईश्वर की सत्ता को दर्शाता है। ये लोग संसार को एक यन्त्र के रूप में नही देखते, जिसकी बनावट यन्त्रकार की बुद्धिमत्ता का पता देती है; अपितु इसे एक ललित-कला के रूप मे देखते हैं। ललित-कला मे प्रमुख स्थान कविता का है। परमात्मा कवि है, और उसकी रचना कविता है। एक वेदमंत्र में कहा है :—

'देवस्य पश्यकाव्यम्; न ममार, न जीर्यति।'

'देव के काव्य को देखो; यह न कभी मरता है, न वृद्ध होता है।' मन्त्र के दूसरे भाग का अर्थ क्या है?

एक लेखक ने कहा है कि हमारी स्थिति और जीवित जगत की स्थिति मे बहुत भेद है। हम आरम्भ मे सौन्दर्य की मूर्ति ही होते है; परन्तु कुछ समय बाद, काल हमारे चेहरे पर टेढी, गहरी रेखाए खीचने लगता है, और आकर्षक चेहरे को कुरूप बना देता है। जीवित प्रकृति की बाबत यह ऐसा नही कर सकता। इधर सौन्दर्य चलने लगता है, उधर नया प्रकट हो जाता है। परमात्मा की यह कविता 'न कभी मरती है, न बूढ़ी होती है।' कलाकार के लिए, व्यापक सौन्दर्य ईश्वर की अपूर्व महिमा का प्रतीक है। जहा साधारण मनुष्य को सौन्दर्य दिखाई नही देता, वहा भी कलाकार को दिखाई देता है; जहा साधारण मनुष्य को राग सुनाई नही देता, वहा उसे सुनाई देता है। कवि-सम्राट शेक्सपियर ने कहा है :—

'जैसिका! बैठो! देखो, आसमान मे चमकते सुवर्ण के टुकड़े कैसे घने जडे है! जिन तारो को तुम देखती हो, उनमे छोटे से छोटा तारा भी अपनी गति मे देव-दूत की तरह गा रहा है। परन्तु हम, इस मिट्टी के जराग्रस्त शरीर मे बन्द हुए, इस राग को सुन नही सकते।'

७. उदयनाचार्य और आस्तिकवाद

भारत के नैयायिको मे, उदयनाचार्य ने अपनी विख्यात पुस्तक 'कुसुमाजली' मे ईश्वर की सत्ता पर विशेष विचार किया है।

उदयन मनुष्य की स्थिति को ध्यान का विषय बनाता है। इस स्थिति मे तीन बाते स्पष्ट दिखाई देती है :—

(१) मनुष्य को सुख और दुख मिलता है।

(२) यह सुख और दुख मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर नही : अपनी प्रकृति से ही सारे मनुष्य सुख की इच्छा करते है, और दुख से बचना चाहते है।

(३) सुख और दुख के सम्बन्ध मे सब मनुष्यो की स्थिति एक सी नही।

प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है, हमारी सारी तर्कना इस धारणा की स्वीकृति पर आधारित होती है। मनुष्य को जो सुख-दुख अनुभूत होता है, वह भी बिना कारण के नही होता। यह कारण मनुष्य आप नही, क्योकि वह दुख की इच्छा न करता हुआ भी, दुखी होता है। चूकि सुख-दुख के सम्बन्ध मे सब मनुष्यों की स्थिति एकसी नही, इसलिए सब के लिए कोई सांझा कारण नही हो सकता। मेरा सुख-दुख मेरे कर्मों का परिणाम है; मेरे पड़ोसी का सुख-दुख उसके कर्मों का परिणाम है। कोई

कर्म भी हो चुकने के साथ, सर्वथा समाप्त नही हो जाता, यह अपने पीछे अपना परिणाम छोड़ जाता है। इस परिणाम को 'अदृष्ट' कहते है। यह अदृष्ट सुख-दुख का कारण है। अदृष्ट और इसका फल नियम-बद्ध होता है : व्यवस्था का अर्थ ही यह है। उदयन कहता है कि अदृष्ट अचेतन होने के कारण, नैतिक व्यवस्था का संस्थापक नही हो सकता, यह व्यवस्था ईश्वर की स्थापना है।

अचेतन परमाणु प्राकृत जगत बनाने मे असमर्थ है, अचेतन अदृष्ट नैतिक व्यवस्था कायम नही कर सकता। दोनो हालतो मे, चेतन ईश्वर ही कार्यो का कारण है।

एक श्लोक मे उदयन ने ईश्वर की सत्ता के पक्ष मे निम्न हेतुओ का वर्णन किया है :—

(१) क्रिया

(२) आयोजन

(३) धृति

(४) श्रुति

(५) सख्या विशेष

क्रिया की बाबत ऊपर कह ही चुके है। घटनाओ के आपसी सम्बन्ध का सिलसिला या तार तो कही टूटता नही : क का कारण ख, ख का ग, ग का घ. . । इन घटनाओ मे कोई घटना नही, जो निरी कारण हो, और कार्य न हो। अरस्तू की तरह, उदयन भी 'प्रथम कारण' की आवश्यकता समझता है। यह प्रथम कारण ईश्वर है। 'अदृष्ट' भी कर्मफल का साधन है, अचेतन अदृष्ट कर्म-फल दाता नही होता। यहा भी कार्य का कारण ईश्वर ही है।

आयोजन से अभिप्राय सम्पादन है। जैसा हम पहले कह चुके है, संसार के सारे पदार्थ मिश्रित है, और समग्र ससार भी मिश्रित है। मिश्रित वस्तु के बनाने के लिए निर्माता की आवश्यकता होती है। सृष्टि के निर्माण के लिए परमाणुओ की सामग्री तो अनादि-काल से विद्यमान है, परन्तु यह सामग्री आप ही सृष्टि-रूपी भवन नही बन सकती। यह हेतु निर्माणात्मक हेतु है, जिस पर हम पहले कह चुके है।

जब किसी पदार्थ का निर्माण हो जाय, तो उसके सम्बन्ध मे प्रश्न उठता है कि वह पदार्थ आप अपनी देखभाल कर सकेगा, या किसी चेतन को उसकी देखभाल करनी होगी। घड़ी बनानेवाला घडी बेचकर उस ओर से निश्चिन्त हो जाता है; परन्तु इसकी बाबत किसी न किसी को तो चिन्ता करनी ही पड़ती है। घड़ी का मालिक इसे रोज चाभी देता है, सुरक्षित रखता है। उदयन के विचार मे, जगत के आरम्भिक

निर्माण के लिए ही नहीं, इसके निरन्तर अधिष्ठान के लिए भी चेतन सत्ता की आवश्यकता है। यह आवश्यकता जगत को धारण करने की है। इसे 'धृति' का नाम दिया जाता है।

चौथा हेतु 'श्रुति' की साक्षी है। भारत के दर्शनों मे शब्द प्रमाण को प्रमुख प्रमाणों मे स्वीकार किया गया है। शब्द को 'आप्त वचन' भी कहते है। आप्त वचन मे परतः और स्वतः प्रमाण का भेद किया है। श्रुति (वेद) स्वतः प्रमाण है; यह अपने प्रकाश से ही चमकता है, परतः प्रमाण की मान्यता इस पर निर्भर है कि वह वेद विरुद्ध न हो। श्रुति में ईश्वर की सत्ता को स्पष्ट स्वीकार किया है।

पांचवा हेतु 'संख्या विशेष' या विशेष संख्या वा समूह है। इसका क्या अभिप्राय है?

ऊपर कहा गया है कि सासारिक पदार्थो मे आयोजन या मेल होता है। ऐसे समूहों के बनने मे दो बाते हो सकती है—(१) समग्र मे, बिना किसी क्रम के, एकाइयाँ मिलकर अनेक समूह बना दे, या (२) यह मेल किसी क्रम मे हो। उदयन के ख्याल मे यह संयोग या आयोजन क्रम के अनुसार होता है : दो परमाणु मिलकर एक जोडा बनाते है। ब्यौरे को एक ओर रखे, तो पता लगेगा कि, समान्य नियम की स्थिति मे, यही नवीन वैज्ञानिको का मत है। हम आक्सिजन, नाइट्रोजन, लोहा, चादी आदि अनेक मौलिक तत्वो का जिक्र करते है। आक्सिजन की बनावट मे परमाणु विशेष सख्या मे इकट्ठे होते हैं, नाइट्रोजन की हालत मे, यह विशेष सख्या भिन्न होती है। यही हाल अन्य मौलिक तत्वो का भी है। मूल प्रकृति तो सब एक प्रकार की है; इसके परम-अणु अनेक विशेष संख्याओ मे मिलते है, और इस भेद के कारण विविध मौलिक तत्व बनते हैं।

यह क्रम अचेतन प्रकृति की क्रिया नही हो सकता, इसके लिए, व्यवस्था के चेतन संस्थापक की आवश्यकता है। यहा उदयन ने प्रयोजनात्मक हेतु को एक सूक्ष्म रूप मे प्रस्तुत किया है।

८. 'व्यवहारवाद' या 'प्रैग्मेटिस्म'

उदयन ने ज्ञान और क्रिया को अपने विवेचन का आधार बनाया है। पश्चिमी दार्शनिको ने भी बहुधा यही किया है। नवीन सिद्धान्त में, एक सम्प्रदाय ने कठिन स्थितियों में भाव से सहायता मांगी है। जैसा हम देख चुके है, प्रैग्मेटिस्म के अनुसार, जहां बुद्धि कोई स्पष्ट निर्णय न कर सके, वहां हमें भाव की ओर देखना चाहिए।

ऐसी स्थिति मे पूछना चाहिए कि किसी प्रतिज्ञा को मानने का व्यावहारिक फल क्या है। यदि यह फल सन्तोषदायक है, तो हमें संकल्प को भाव की पुष्टि के लिए बर्तना चाहिए। हम यहां प्रैग्मेटिस्म के सत्य या असत्य होने की बाबत विचार नहीं कर रहे हैं। हमें तो यही कहना है, कि जो लोग इस दृष्टिकोण को मान्य स्वीकार करते हैं, उनके लिए आस्तिकवाद मान्य मत है। आस्तिकवाद मानव जाति के लिए हर प्रकार की कठिनाई में अपूर्व सहारा साबित हुआ है। आस्तिक के अन्य विश्वास लड़खड़ा जायं तो भी यह विश्वास अचल रहता है कि परमात्मा उसकी रक्षा कर सकता है; आवश्यकता इतनी ही है कि वह इसका पात्र हो।

ईश्वर का स्वरूप : कुछ प्रश्न

पिछले अध्याय मे हमने देखा है कि हमारा अनुभव, बाहरी और अन्तरंग, ईश्वर की सत्ता की ओर सकेत करता है। कुछ विचारकों के मत में तो मानव अनुभव की सम्भावना ही ईश्वरी सत्ता पर आश्रित है। अब ईश्वर के स्वरूप की बाबत कुछ विचार करें। ईश्वर की सत्ता आस्तिकों और नास्तिकों में विवाद का विषय है; ईश्वर का स्वरूप स्वयं आस्तिको मे विवाद का विषय बना रहा है।

ईश्वर के गुणों की बाबत चिन्तन करते हुए, हम एक से अधिक दृष्टि-कोणों को अपना सकते हैं। एक दृष्टि-कोण तात्विक है। इसे अपनाकर हम देखना चाहते हैं कि ईश्वर के तात्विक गुण क्या है। एक अन्य दृष्टि-कोण से हम भूमण्डल और ईश्वर के सम्बन्ध को प्रमुख रखना चाहते हैं; और ऐसा करके, ईश्वर के स्वरूप की बाबत कुछ जानना चाहते हैं। अन्त मे हम मनुष्य को सम्मुख रखकर देखना चाहते हैं कि मनुष्य के सम्बन्ध मे, ईश्वरी व्यवहार ईश्वर के स्वरूप पर क्या प्रकाश डालता है।

इन तीनों प्रकार के गुणों को हम तात्विक, शासक, और नैतिक गुण कह सकते हैं।

तात्विक गुणों के सम्बन्ध मे प्रमुख प्रश्न ये हैं :—

(१) ईश्वर एक है, या अनेक ईश्वर हैं ?

(२) ईश्वर चेतन है, चेतना है, या दोनो मे अलग है ?

शासक-गुणो के सम्बन्ध में प्रमुख प्रश्न ये हैं :—

(१) ईश्वर की शक्ति सीमित है, या असीम है ?

(२) ईश्वर की क्रिया संसार में है; संसार से परे है; या संसार मे है, और इससे परे भी है ?

नैतिक गुणो के सम्बन्ध मे प्रमुख प्रश्न यह है कि ईश्वर मनुष्य को व्यवस्था में रखने के लिए निश्चित नियम पर चलता है, या अपने ऊपर ऐसी रोक नही लगाता ? इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए पूछा जाता है कि मनुष्यों के सम्बन्ध में, ईश्वर शक्ति-सम्पन्न न्यायाधीश है, या स्नेह की मूर्त्ति पिता है ? न्याय और करुणा में कौन-सा गुण उसके स्वरूप को बेहतर दर्शाता है ?

१. एक-ईश्वरवाद और अनेक-ईश्वरवाद

अब इन प्रश्नों पर उपर्युक्त क्रम में कुछ विचार करें।

ईश्वर की बाबत चिन्तन करने में, हम तीन रीतियों में से किसी एक का प्रयोग करते हैं :—

(१) हम त्रुटियों पर दृष्टि डालते है और प्रत्येक त्रुटि को, जिसकी हम कल्पना कर सकते है, एक ओर रखकर त्रुटि-विहीन सत्ता का प्रत्यय बनाते है।

(२) हम त्रुटियों की ओर नही, अपितु उत्तमताओं की ओर ध्यान रखते हैं, और सारी उत्तमताओं का, उनकी अतीव अवस्था में, समन्वय करते हैं। जिस सत्ता में किसी श्रेष्ठता में बढ़ती होने की सम्भावना ही न रहे, वह, हमारे विचार में, ईश्वर है।

(३) हम कारण-कार्य सम्बन्ध को अपने सम्मुख रखते है। कारण में कार्य उत्पन्न करने की शक्ति है। हर प्रकार की शक्ति की पराकाष्ठा ईश्वर का चिह्न समझी जाती है।

'ईश्वर' के अर्थ मे ही शक्ति का प्रत्यय शामिल है। अनन्त शक्ति पर किसी प्रकार की रोक नही हो सकती। जो कुछ जाना जा सकता है, वह ईश्वर के ज्ञान में है; जहा कही विद्यमान होना सम्भव है, वहा ईश्वर मौजूद है; जो कुछ ईश्वर-इच्छा में होता है, वह बिना किसी रोक के हो जाता है।

वास्तव मे दूसरी और तीसरी रीतिया पहली रीति में ही सम्मिलित है। बड़ी से बड़ी श्रेष्ठता का अभाव, और शक्ति का सीमित होना, दोनों त्रुटियां है। जिस सत्ता मं कोई त्रुटि न हो, वह श्रेष्ठ और शक्तिशाली तो होती ही है।

हमारे सामने इस समय प्रश्न यह है कि यदि ऐसी शक्ति का भाव है, तो वह एक है, या अनेक ?

एक-ईश्वरवाद और अनेक-ईश्वरवाद के सम्बन्ध में विवाद का एक विषय यह है कि, ऐतिहासिक लिहाज से, अनेक-ईश्वरवाद ने विकास में एक-ईश्वरवाद के लिए स्थान प्रस्तुत किया, या यह, गिरावट के रूप में, एक-ईश्वरवाद के पीछे व्यक्त हुआ। जो लोग एक-ईश्वरवाद को आस्तिकवाद का मौलिक रूप समझते हैं, वे कहते है कि धार्मिक-चेतना का उदय अपनी निर्बलता के बोध से होता है। मनुष्य देखता है कि वह असहाय है और किसी अज्ञात शक्ति पर आश्रित है। उसकी बुद्धि पृथक्करण के अयोग्य होती है। इसलिए वह एक ईश्वर से ही आरम्भ करता है। यह एक-ईश्वरवाद उस एक-ईश्वरवाद से भिन्न है, जो अनेक-ईश्वरवाद को असन्तोषजनक समझता है। मनुष्य

की स्थिति बदलती रहती है; कभी सुखी होता है, कभी दुःखी होता है। पहिली हालत में वह कृतज्ञता प्रकट करना चाहता है; दूसरी हालत में, विरोधी शक्ति को शान्त करना चाहता है। वह एक ईश्वर की जगह दो विरोधी शक्तियों में विश्वास करने लगता है। स्थितियों के नानात्व के कारण अदृष्ट शक्तियों की संख्या भी बढती जाती है, और एक-ईश्वरवाद का स्थान अनेक-ईश्वरवाद ले लेता है।

आरम्भिक अवस्था में, मनुष्य न बाह्य जगत् को, और न अपने आपको ही भली प्रकार समझता है। जब जगत का ज्ञान बढ़ता है, तो वह इसमें एक ही नियम का राज्य देखने लगता है; विविधता के साथ एकता भी सम्मिलित हो जाती है। ऐसी स्थिति में आस्तिकवाद एक-ईश्वरवाद के रूप में ही स्वीकृत हो सकता है।

२. ईश्वर 'पुरुष विशेष' है या नहीं ?

आस्तिकों मे कुछ लोग ईश्वर को चेतन द्रव्य समझते हैं; कुछ इसे सामान्य चेतना के रूप में देखते है। कुछ ऐसे भी है जो चेतना और अचेतना में भेद नहीं करते, और समग्र सत्ता को ईश्वर बताते हैं। जो लोग सामान्य चेतना को ईश्वर के रूप में देखते हैं, उनमें कुछ कहते हे कि विश्व में नानात्व विद्यमान है; परन्तु प्रत्येक वस्तु में कुछ अंश ऐसा है, जो उसकी विलक्षणता है, और उसे अन्य पदार्थों से भिन्न बनाता है; कुछ अंश ऐसा है, जो अन्य सभी वस्तुओं में भी पाया जाता है। ईश्वर समग्र चेतना नहीं, परन्तु इसका वही भाग है, जो सामान्य है।

बहुमत ईश्वर को चेतन द्रव्य के रूप में देखता है। जीवात्मा चेतन द्रव्य है। ऐसे आत्मा या पुरुष अनेक हैं। न्याय दर्शन में ईश्वर को भी 'पुरुष विशेष' कहा गया है। पुरुषत्व का तत्व क्या है ?

हमारी चेतना में ज्ञान, भाव, और क्रिया तीन पक्ष पाये जाते हैं। प्रत्येक पुरुष का अपना व्यक्तित्व है, उसकी विशेष सत्ता है। जैसा विलियम जेम्स ने कहा है, पुरुषों के सबन्ध में निरपेक्ष, अनेकवाद अन्तिम तथ्य है। किसी पुरुष को तोड़ कर, उसके तीन या चार उप-पुरुष नहीं बन सकते, न कुछ पुरुष मिलकर कोई बड़ा, मिश्रित पुरुष बना सकते हैं। सारी चेतना मे किसी चेत्य, चेतना के विषय, की ओर संकेत होता है। इस अन्यत्व या दूसरेपन के बिना यह सम्बन्ध समझ में ही नही आता। जब हम ईश्वर को 'पुरुष विशेष' कहते है, तो यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सत्ता भी है। कुछ लोग कहते है कि ऐसा ईश्वर क्या ईश्वर है ? ईश्वर को तो हर प्रकार की रोक और सीमा से ऊपर होना चाहिए। विवाद की नीव तो हमारा अपना अस्तित्व है। मै यह कल्पना कर सकता हूं कि बाह्य जगत की कोई वास्तविक

सत्ता नहीं; यह भी कल्पना कर सकता हूं कि मैं ही अकेला आत्मा हूं, परन्तु किसी यत्न से भी यह नहीं समझ सकता कि मेरी अपनी कोई सत्ता नहीं। यह यत्न ही, जहां तक मेरी सत्ता का प्रश्न है, विवाद का निर्णय कर देता है।

जैसा हम पहले देख चुके हैं, ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का सम्पर्क होता है; क्रिया में आत्मा किसी पदार्थ पर प्रभाव डालती है; अनुभूति में बाह्य पदार्थ ज्ञाता में परिवर्तन करता है। हमारी चेतना में ये तीनों पक्ष विद्यमान हैं। क्या ये, उपयोगी भेद के साथ, परमात्मा में भी मौजूद हैं? ज्ञान और क्रिया के सम्बन्ध में तो कोई कठिनाई दिखाई नहीं देती। हमारा ज्ञान अल्प है; इसमें भ्रम भी मिल जाता है। परमात्मा से कुछ छिपा नहीं और उसका ज्ञान सर्वथा निर्भ्रान्त है। जगत का निर्माण और इसकी व्यवस्था उसकी क्रिया है। क्रिया किसी विचार को स्थूल आकार देना है; यह बल का प्रकाश भी है। उपनिषद में कहा है कि ज्ञान, बल, और क्रिया परमात्मा के स्वभाव में ही सम्मिलित हैं।

अनुभूति की बाबत प्रश्न इतना सरल नहीं। कुछ मनोवैज्ञानिक तो अनुभूति को मन की घबराहट ही समझते हैं। हम जो कुछ उद्वेग के प्रभाव में करते हैं, वह बुद्धि के नेतृत्व मे तो नही होता। ऐसी अवस्था में कोई अन्य पदार्थ हम पर आक्रमण करता है, और हमारी स्थिति आक्रान्त की होती है। इन बातो को ध्यान में रखकर, कुछ विचारक अनुभूति को परमात्मा की चेतना में दाखिल नही करते। उपनिषदों मे प्रायः यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। अनुभूति में सुख-दुःख का भास मौलिक है। दुःख को हम दूर से देख नही सकते; इसे जानने का अर्थ इसे वास्तव में अनुभव करना है। परमात्मा की हालत में, हम ऐसे अनुभव का चिन्तन ही नही कर सकते।

पश्चिम मे कुछ लोगो का विचार इसके विपरीत है। वे कहते है कि परमात्मा हमारे निकटतम है। वह हमारी सहायता उसी हालत मे कर सकता है, जब उसे हमारी सारी कठिनाइयों का पूरा ज्ञान हो। उसका स्नेह उसे मजबूर करता है कि वह हमारे दुख-सुख में सम्मिलित हो। इस विचार को अवतारवाद ने जो पश्चिम के धार्मिक मन्तव्य का प्रमुख अंग है, प्रोत्साहित किया है।

३. ईश्वर की शक्ति सीमित है या नहीं ?

यदि ईश्वर ही अकेली सत्ता नही, और जो सत्ता इसके अतिरिक्त है, वह भी कुछ कर सकती है, तो ईश्वर की शक्ति सीमित प्रतीत होती है। यहा भी कुछ लोगों के विचार और भावना को ठोकर लगती है। यहां वास्तव में सारा प्रश्न स्थायी स्वभाव

का है। क्या प्रकृति का ऐसा स्वभाव है? क्या मानव का ऐसा स्वभाव है? क्या स्वयं परमात्मा का ऐसा स्वभाव है? पहले प्रकृति को लें।

विचारकों में बहुमत यह है कि प्रकृति का ऐसा स्वभाव है। चाहे यह इसे परमात्मा से मिला है, चाहे इसका अपना है, यह इस स्वभाव के अनुकूल काम कर रही है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रकृति की साधारण क्रिया तो नियमानुकूल होती है, परन्तु विशेष अवसरों पर, परमात्मा इन नियमों को स्थगित कर सकता है, और करता है। ऐसा करना क्यों आवश्यक है? इसलिए कि जो कारण काम कर रहे थे, वे उस कार्य को, जिसकी उत्पत्ति परमात्मा चाहता था, उत्पन्न नहीं कर सकते थे। उन कारणों मे कोई चीज ऐसी थी, जो परमात्मा की इच्छा के सामने झुकने को तैयार न थी। यह भी तो परमात्मा की शक्ति पर रोक है। परमात्मा की शक्ति चमत्कारों में नही दिखाई देती; वह नियम के अबाध होने मे दिखाई देती है। 'सबसे अच्छा शासन वह है, जिसके अस्तित्व की ओर किसी का ध्यान ही नही जाता।' वैज्ञानिक मनोवृत्ति ने चमत्कारों को भूतकाल की गाथाएं बना दिया है।

हम यह भी नही कह सकते कि परमात्मा का अपना कोई स्वभाव नही, और वह जो कुछ करता है, अनियमित करता है। चेतन सत्ता का व्यक्तित्व स्थायी चरित्र मे ही है। जो लोग परमात्मा को सर्वशक्तिमान कहते हैं, वे भी यह नही मानते कि परमात्मा अन्याय कर सकता है; धोखा दे सकता है; अपने जैसे या अपने से भी बडे परमात्मा को बना सकता है।

परमात्मा को शक्ति की सीमा का सबसे स्पष्ट उदाहरण मनुष्यों की अपनी क्रिया है। परमात्मा ने मुझे क्रिया करने की शक्ति दी है; उसने मुझे ऐसे वातावरण मे रखा है, जिसमे क्रिया हो सकती है। परन्तु सीमाओं के अन्दर, जो कुछ मै करता हूं, वह मेरा काम है; परमात्मा का काम नही। वर्तमान लेख मै लिख रहा हूं, परमात्मा नही लिख रहा। जो कुछ संसार मे हो रहा है, वह सब परमात्मा की क्रिया नहीं। इन अर्थों मे परमात्मा की शक्ति सीमित है। जब हम परमात्मा को सर्वशक्तिमान कहते है, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि परमात्मा को जो कुछ करना होता है, वह उसे बिना किसी रोक के, बिना किसी बाहरी सहायता के, कर सकता है।

४. अन्तरात्मा या पर-ब्रह्म ?

हम एक से अधिक बार घटना और क्रिया के भेद की ओर संकेत कर चुके हैं। घटना में प्रकृति के किसी अंश का स्थान-परिवर्तन होता है, और इसके साथ शक्ति या एनर्जी का नया विभाजन हो जाता है। क्रिया में यह होता है, परन्तु इसलिए कि कोई

चेतन कर्त्ता अपनी इच्छा को दृष्ट रूप देना चाहता है। यह सम्भव है कि जब वृक्ष की टहनियां हिलती हैं, तो वृक्ष भी झुकना चाहता हो; परन्तु ऐसी स्थिति का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता, और हम वृक्ष को इच्छा-विहीन अचेतन प्राणी ही समझते हैं। मनुष्यों की बाबत हम ऐसा नहीं समझते। अपनी बाबत तो पूर्ण विश्वास है कि मैं यह पंक्तिया लिखने मे अपने संकल्प को स्थूल रूप दे रहा हूं।

जो लोग घटना और क्रिया मे भेद नही देखते, उनके लिए दो मार्ग खुले हैं : या तो वे क्रिया को घटना के रूप में देखें; या घटना को क्रिया के रूप में देखें। प्रकृतिवादी पहिले मार्ग को अपनाते हैं; धार्मिक-दर्शन दूसरे मार्ग को अपनाता है। दूसरे विचार के अनुसार, जो शक्ति अचेतन जगत में काम कर रही है, वह ब्रह्म की शक्ति है। यह उपनिषदो का दृष्टि-कोण है। इसे एक अलंकार मे प्रकट किया है।

केन उपनिषद के तीसरे खण्ड में हम पढ़ते हैं :—

"ब्रह्म ने देवताओं के लिए विजय प्राप्त की। ब्रह्म की इस विजय मे देवताओं ने गौरव प्राप्त किया।

उन्हे ख्याल आया—'यह विजय हमारी ही है; यह विजय हमारी ही है।' ब्रह्म ने उनके इस भाव को जाना, और वह उनके सामने प्रकट हुआ। देवता पहचान न सके कि वह यक्ष कौन है।

उन्होंने अग्नि से कहा—'जाओ, पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है।' अग्नि ने कहा—'बहुत अच्छा।'

अग्नि यक्ष के पास पहुंचा। यक्ष ने पूछा—'तू कौन है?'

उसने उत्तर दिया—'मैं अग्नि हूं, मैं 'जातवेदा' (प्रकाश का स्रोत) हू।'

यक्ष ने पूछा—'तुम कर क्या सकते हो?' अग्नि ने कहा—'पृथिवी में जो कुछ है, उस सभी को जला सकता हूं।'

यक्ष नें अग्नि के सामने एक तिनका रख दिया, और कहा—'इसे जलाओ।' अग्नि तिनके के निकट गया, परन्तु अपने सारे यत्न से उसे जला न सका। अग्नि वहां से लौट गया, और जाकर देवताओं से कहा—'मै जान नहीं सका कि यह यक्ष कौन है।'

तब देवताओं ने वायु से कहा—'वायो! तुम जाओ, और पता लगाओ कि यह यक्ष कौन है।' वायु ने कहा—'बहुत अच्छा।'

वायु यक्ष के पास पहुंचा। यक्ष ने कहा—'तू कौन है?' वायु ने कहा—'मैं वायु हूं; मै 'मातरिश्व' (अन्तरिक्ष में विचरने वाला) हूं।'

यक्ष ने पूछा—'तुम कर क्या सकते हो?' उसने कहा—'पृथिवी पर जो कुछ भी है, मै उसे उड़ा ले जाने की सामर्थ्य रखता हूं।'

यक्ष ने उसके सामने एक तिनका रख दिया, और कहा—'इसे उड़ा दो।' वायु अपने सारे वेग से उसे उड़ा न सका। वह लौट गया, और देवताओं से कहा—'मैं यह नही जान सका कि यह यक्ष कौन है।'

तब देवताओं ने इन्द्र से कहा—'मेघनाथ! तुम जाओ, और मालूम करो कि यह यक्ष कौन है।' इन्द्र ने कहा—'बहुत अच्छा।' और वह यक्ष के पास गया। यक्ष इन्द्र के सामने से लोप हो गया।

इन्द्र ने उसी आकाश मे एक अत्यन्त शोभामयी स्त्री को देखा। यह हिमालय की पुत्री, उमा (ब्रह्म विद्या) थी।* इन्द्र ने उमा मे पूछा—'यह यक्ष कौन है?'

उमा ने कहा—'यह ब्रह्म है। तुम्हे जो महिमा प्राप्त हुई है, वह ब्रह्म की विजय के कारण ही मिली है।' इन्द्र को पता लगा कि वह यक्ष ब्रह्म था।

इस कथा का अर्थ यह है कि संसार में जो शक्ति भी विद्यमान है, वह वास्तव मे ब्रह्म की शक्ति ही है। इसी ख्याल को जाहिर करने के लिए, निम्न श्लोक एक से अधिक उपनिषदों में आता है :—

'वहा (ब्रह्म लोक में) न सूर्य चमकता है, न चन्द्र, न तारे , न बिजली चमकती है, यह अग्नि तो क्या चमक सकती है? वास्तव में ब्रह्म के प्रकाशित होने से ही यह जगत प्रकाशित होता है, उसके चमकने से ही यह सब चमक रहा है।'

यह भी कहा है :—

'वह एक देव सब भूतों में छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापक है, और सब भूतो का अन्तरात्मा है। वह सारे कर्मों का अध्यक्ष है, सारे भूतो में स्थित है, साक्षी है, चेता है, केवल है और निर्गुण है।'

यह ब्रह्म का एक रूप है : वह निकट से निकट है; प्रत्येक वस्तु मे रमा हुआ है। प्राकृत जगत में जो कुछ हो रहा है, उसकी शक्ति से हो रहा है; मनुष्यों के कर्मों का अधिष्ठाता है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य कुछ कर सकते हैं, परन्तु जो कुछ करते हैं, वह ईश्वरी व्यवस्था में ही करते हैं। इसके अतिरिक्त, ब्रह्म का एक और रूप भी है : वह पर-ब्रह्म है। विश्व की सत्ता उसे सीमित नहीं करती : वह इससे परे भी है। वह जगत का अन्तरात्मा है, कर्मों का अधिष्ठाता है; परन्तु यह तो सृष्टि के सम्बन्ध में उसका रूप है। स्रष्टा होना उसका एक पक्ष है। वह प्रकटनों के जगत से ऊपर भी है। जहां वह निकट से निकट है, वहां दूर से दूर भी है।

५. परमात्मा के नैतिक गुण

'मनुष्य के लिए, विवेचन का प्रमुख विषय स्वयं मनुष्य ही है।' हम मानव अनुभव के समाधान पर विचार कर रहे हैं। मनुष्य की चेतना में, जैसा पहिले कह चुके हैं, कर्तव्य का प्रत्यय प्रमुख प्रत्यय है। कर्तव्य-पालन के लिए आवश्यक है कि कार्यों मे चुनाव करने की क्षमता हो। काट के शब्दो मे, 'तुम्हे करना चाहिए; इसलिए, तुम कर सकते हो।' अन्य पदार्थ नियम के अधीन चलते हैं; मनुष्य आदर्श का चिन्तन करता है; और चाहे तो उसके अनुसार कर सकता है, चाहे तो उसके प्रतिकूल कर सकता है। यहा तक उसकी स्वाधीनता जाती है; इससे आगे नही जाती। उसे अपने कर्मो का फल भोगना पडता है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—'कर्मो में तुम्हारा अधिकार है; कर्म-फल मे तुम्हारा अधिकार नही।'

यहा कुछ लोग कहते है कि कर्म करने मे भी हमारा अधिकार नही। एक दल कहता है कि हम प्राकृत नियम से बंधे हुए, नियत मार्ग से इधर-उधर जा ही नही सकते, दूसरा दल कहता है कि जो कुछ हमे करना है, वह तो आरम्भ मे ही विधाता ने हमारा भाग्य बना दिया है। एक तीसरा विचार इस कठिनाई को ईश्वर की शक्ति से नही, उसके ज्ञान से सम्बद्ध करता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, सब कुछ जानता है। 'सब कुछ' मे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालो मे होने वाली घटनाएं और क्रियाए आ जाती हैं। यदि परमात्मा जानता है कि मै परसो क्या करूंगा, तो मेरी क्रिया निश्चित हो चुकी है, मेरे लिए एक मार्ग ही खुला है। ईश्वर का भविष्य को जानना मेरी स्वाधीनता को समाप्त कर देता है।

इस कठिनाई से बचने के लिए क्या कह सकते है? एक समाधान तो यह है कि किसी घटना की बाबत जानना उसे निश्चित करने से भिन्न है। मै जानता हूं कि अगला सूर्य-ग्रहण कब लगेगा, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि सूर्य, पृथिवी और चन्द्र का एक विशेष स्थिति मे होना मेरे संकल्प का परिणाम होगा। ईश्वर सर्वज्ञ होने से यह जान सकता है कि परसो मेरी स्वाधीन क्रिया क्या होगी।

एक और विचार के अनुसार, जानने का अर्थ वास्तविकता का ज्ञान है। मुझे जो कुछ परसो करना है, वह तो अभी वास्तविकता का भाग ही नही; उसे जानने न जानने का प्रश्न ही नही उठता। मुझे या किसी और मनुष्य को तो यह भी पता नही कि परसो मै जीवित भी हूगा, या नही।

यह दोनो विचार काल की स्थिति को साधारण रूप मे स्वीकार कर लेते है। एक तीसरा विचार काल की स्थिति को विवेचन का विषय बनाता है। भूत, वर्तमान

और भविष्य का भेद हम अपनी अल्पज्ञता के कारण करते है। देश के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही भेद करते है।

हमारे लिए यहा और वहा, अब और तब, का भेद है, क्योकि हम, एक साथ, हर कही और हर समय मे नही हो सकते। ईश्वर के लिए ऐसी रोक नही, उसके लिए सभी स्थान 'यहा' है, और सारा काल 'अब' है। ईश्वर के सम्बन्ध मे यह प्रश्न ही निरर्थक है कि वह भविष्य की बाबत जानता है, या नही। उसके लिए भविष्य का अस्तित्व ही नही।

ईश्वर का सर्वज्ञ होना मनुष्य की स्वाधीनता के प्रतिकूल नही। ईश्वर कर्मो का अध्यक्ष है, वह मर्यादा स्थापित करता है, और जो कोई मर्यादा को भग करता है, उसे उचित फल देता है। इसे ध्यान मे रखते हुए, हम उसे राजा और न्यायाधीश का नाम देते है। न्यायाधीश दण्ड भी देता है, और हम दण्ड को पसन्द नही करते। हम कहते है, 'परमात्मा हमारा पिता है, वह स्नेह मे हमे दण्ड नही देगा, उसकी करुणा उसके न्याय पर विजय पायेगी।'

नैतिक जीवन के सम्बन्ध मे, आस्तिकवाद के लिए सबसे जटिल प्रश्न यही है कि ईश्वर पापियो के लिए न्यायकारी राजा है, या करुणामय पिता है। कुछ लोग कहते है कि प्राकृत नियम की तरह, नैतिक नियम भी अबाध है, इन अर्थो मे कि यदि उसका उल्लघन किया जाय, तो वह उल्लघन करने वाले का पीछा करता है। कुछ अन्य लोग कहते है कि ईश्वर कर्म-नियम के लागू करने मे बहुत सख्ती से काम नही लेता।

जो लोग न्याय की माग मे करुणा की माग को अधिक महत्व देते है, वे कहते है कि मनुष्य अपनी निर्बलता के कारण न्याय की माग को पूरा नही कर सकता। जो नियम उसके लिए निश्चित किया गया है, वह उसकी पहुच मे बहुत ऊचा है, और परमात्मा की करुणा के बिना उसके लिए बचाव का कोई मार्ग नही। इस धारणा मे यह ख्याल भी पाया जाता है कि जहा गिरावट इतनी सुगम है, वहा दण्ड की मात्रा बहुत बडी है। इन कठिनाइयो की बाबत हम पूछते है कि जिस व्यवस्था मे ये कठिनाइया इतने भयावने रूप मे विद्यमान है, वह व्यवस्था स्थापित किसने की है? निर्जीव प्रकृति तो नैतिक व्यवस्था का स्रोत नही हो सकती, स्वय मनुष्य भी, जो इसके नीचे इतना चीखता है, इसका निर्माता नही हो सकता। यह व्यवस्था परमात्मा की स्थापना है, उसे तो मालूम होना चाहिए कि उसकी स्थापित की हुई व्यवस्था व्यावहारिक है, या नही। जब हम इस व्यवस्था की बाबत निर्णय देते है, तो हमे देखना चाहिए कि हम बुद्धि की आवाज सुन रहे है या भाव का शोर सुनते है।

न्याय मे हम दृष्ट क्रिया की ओर सकेत करते है, करुणा या दया मे मनोवृत्ति

को ओर संकेत करते हैं। जब एक पिता पुत्र को पीटता है, क्योकि उसने पारिवारिक मर्यादा को भग किया है, तो हम यह कैसे जानते हैं कि उसकी क्रिया की तह मे करुणा की भावना नही ? अधिक सम्भावना तो यही है कि वह पुत्र को करुणा के प्रभाव मे पीट रहा है। इसी तरह, जो पीड़ा हमे अपने कुकर्मों के दण्ड के रूप मे मिलती है, वह एक साथ परमात्मा के न्याय और उसकी दया दोनो को प्रकट करती है।

जर्मनी के दार्शनिक हीगल ने तो कहा है कि जब कोई मनुष्य कुकर्म करता है, तो मानव-स्तर से नीचे आ गिरता है। उसका हित इसी में है कि वह फिर अपने स्तर पर पहुच सके। दण्ड इसका साधन है; यह उसका अधिकार है, जिससे उसे वचित नही किया जा सकता। दण्ड मिलने पर ही, उसकी स्वाधीनता और नैतिक व्यक्तित्व की स्पष्ट घोषणा होती है। जो व्यवस्था स्थापित की गयी है, उसका अनादर होना नही चाहिए। प्राकृत नियम और नैतिक नियम, सत्य और ऋत, दोनो पर भूमण्डल आश्रित है।

ब्रह्मसर्ववाद और ईश्वरवाद

१. आस्तिकवाद के विविध रूप

आस्तिकवाद ने कई रूप धारण किये है।

एक रूप एकवाद है। यह सत्ता में किसी प्रकार के तात्विक भेद को स्वीकार नही करता। एक और रूप ईश्वरवाद है, इसके अनुसार, सत्ता में ईश्वर का पद सर्वोपरि है, परन्तु हम यह नही कह सकते कि इसके अतिरिक्त जो कुछ है, वह भास-मात्र है।

एकवाद भी कई रूपो मे प्रकट हुआ है। प्राचीन काल मे स्टोइक सम्प्रदाय ने अकेली सत्ता को प्रकृति मे देखा। प्रकृति का प्रमुख स्पर्द्धी मन है। स्टोइक विचार ने मन को प्राकृत गति का एक कल ही बताया। डेकार्ट ने चेतन और अचेतन के भेद को मौलिक भेद बयान किया। स्पीनोजा ने स्टोइक विचार और डेकार्ट के मत का समन्वय करने का यत्न किया। उसने एकवाद को तो माना, परन्तु प्रकृति के मुकाबले मे चेतना को गौण पद नही दिया। उसने डेकार्ट के द्वैत को भी स्वीकार किया, परन्तु यह द्रव्यो का द्वैत नही, अपितु गुणो का द्वैत था। वास्तव सत्ता एक ही है; चेतना और विस्तार उसके दो गुण है, जो अनेक ज्ञाताओ और प्राकृत पदार्थों के रूप मे व्यक्त होते है। स्पीनोजा ने इस सत्ता को 'सब्स्टैन्स' का नाम दिया।

स्पीनोजा से पीछे आने वाले विचारको मे, किसी ने 'सब्स्टैन्स' मे विस्तार को, और किसी ने चेतना को प्रमुख लक्षण देखा। इसके फलस्वरूप, किसी ने स्पीनोजा को नास्तिक समझा; किसी ने कहा कि वह ब्रह्माण्ड को ब्रह्म मे विलीन कर देता है। स्पीनोजा ने स्वयं इस शब्द का प्रयोग नही किया, परन्तु उसके सिद्धान्त को 'पैन्थि-इस्म' का नाम दिया गया। इस शब्द का अर्थ है—'वह सिद्धान्त जिसके अनुसार परमात्मा ही सब कुछ है।' पश्चिमी दर्शन मे स्पीनोजा को सबसे बडा एकवादी समझा जाता है।

स्पीनोजा के बाद, जर्मनी के दार्शनिक हीगल का नाम एकवाद के साथ विशेष

रूप से सम्बद्ध है। हीगल एक पक्ष मे, स्पीनोजा की अपेक्षा, स्टोइक सम्प्रदाय की ओर झुका; उसने चेतना और विस्तार को अन्तिम सत्ता मे बराबर का स्थान नही दिया। मौलिक गुण के चुनने मे, उसने स्टोइक विचार को अमान्य समझा, और चेतना को यह पद दिया।

स्पीनोजा ने अन्तिम सत्ता को 'सब्स्टैन्स' कहा था, हीगल ने इसे 'सब्जेक्ट' (ज्ञाता) के रूप में देखा। हीगल का 'एब्सोल्यूट' मन है।

२. हीगल का सिद्धान्त

हीगल के सिद्धान्त को समझना कठिन है। जिस भाषा मे उसने इसे प्रकट किया, उसने इसे और भी कठिन बना दिया है। कहते हैं, स्वय हीगल ने मृत्यु से कुछ समय पहिले कहा कि उसके एक शिष्य ने ही उसे समझा और उसने भी गलत समझा। ऐसे सिद्धान्त के सम्बन्ध मे हम यह आशा कर ही सकते हैं कि उसके अनुयायियो ने इसे भिन्न अर्थो मे समझा। प्रमुख कठिनाई यह है कि निरपेक्ष या एब्सोल्यूट मन मे मनुष्यो का स्थान क्या है?

मेरा अनुभव अनेक चेतना-अवस्थाओं का समूह है। आत्मा की बाबत प्रमुख विवाद यह रहा है कि यह उन अवस्थाओ का आश्रय, उनसे अलग तत्व है, या उनके समूह का नाम ही है। लाक और बर्कले इसे द्रव्य समझते थे, ह्यूम इसे प्रकटनों की लड़ी समझता था। एब्सोल्यूट मे जीवात्माओ की स्थिति वही है, जो एक जीवात्मा के सम्बन्ध मे उसकी अवस्थाओ की है। यहा भी वही प्रश्न उठता है, जिसने अनुभव-वादियो को दो दलो मे बाट दिया था। इग्लैण्ड मे, टामस हिल ग्रीन, केअर्ड बन्धुओं और कुछ अन्य विचारको ने कहा कि हीगल के सिद्धान्त मे एब्सोल्यूट अगणित सीमित आत्माओ से अलग, और उनका आश्रय, एक सत्ता है। इस विचार के विपरीत, डाक्टर मैक्टेगार्ट का मत है कि एब्सोल्यूट जीवात्माओ का समूह ही है।

मैक्टेगार्ट का विचार जीवात्माओ की सत्ता को सुरक्षित कर देता है, और उन्हें ही सारी आत्मिक सत्ता बताता है। इस समग्र सत्ता मे प्रत्येक अंश आवश्यक है, और कोई अंश किसी दूसरे अंश का स्थान नही ले सकता। प्रत्येक आत्मा अनादि और अमर है। मैक्टेगार्ट की व्याख्या हमें एकवाद के स्थान मे आत्मिक अनेकवाद देती है। यह अनेकवाद लाइबनिज के अनेकवाद से भिन्न है। लाइबनिज के चिद्-बिन्दु एक दूसरे के सम्पर्क में नही आते; मैक्टेगार्ट की आत्माओं में यह अयोग्यता नही।

हीगल के अनुयायी बहुधा उसकी शिक्षा को उसकी पहली व्याख्या में स्वीकार

करते है। इसके अनुसार एब्सोल्यूट की सत्ता ही अकेली सत्ता है; हम सब प्रकटन मात्र है।

इस स्थिति मे, जीवात्मा की बाबत तीन प्रश्न उठते है :—

(१) व्यक्ति का अस्तित्व वास्तविक है, या आभास ही है?

समुद्र मे तरगे उठती है . व्यक्त होती है, और क्षणो मे अदृष्ट हो जाती है। वे समुद्र से जुदा कुछ है ही नही . जल की ऊपर-नीचे की अवस्थाए है, जिन्हे हम भ्रम मे वास्तविक समझ लेते है। क्या हमारी स्थिति भी इन तरगो की सी है?

(२) हमे प्रतीत होता है कि हम कुछ कर सकते है, और करते भी रहते है। हमारी क्रिया तथ्य है, या भ्रम ही है?

(३) जब हम अपनी क्रिया को देखते है, तो इसमे शुभ-अशुभ का भेद करते है। यह भेद भद्र और अभद्र के भेद का एक रूप है। मिथ्या ज्ञान, कुरूपता, दुख, द्वेष आदि अभद्र के अन्य रूप है। क्या ये बुराइया विश्व मे विद्यमान है? यदि है, तो ये ऐसे विश्व मे, जो पूर्णता का प्रकाश है, कैसे आ घुसी?

१. मनुष्य का स्वतंत्र व्यक्तित्व

हमे देखना है कि एकवाद मे इन प्रश्नो का सन्तोषजनक उत्तर मिलता है या नही।

'पैन्थिइस्म' या ब्रह्मसर्ववाद मे मनुष्य के स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए कोई स्थान नही, यह केवल प्रकटन है। ईश्वरवाद सारी सत्ता को ईश्वर मे ही नही देखता। यह ईश्वर के अतिरिक्त प्राकृत जगत और जीवात्माओ के अस्तित्व को भी मानता है। कुछ लोग कहते है कि यदि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सत्ता भी है, तो ईश्वर अनन्त नही रहता, सान्त हो जाता है। यह ठीक है, परन्तु यह परिणाम तो ईश्वर के प्रत्यय मे ही निहित है। ईश्वर का ऐश्वर्य किसी ऐसी सत्ता की अपेक्षा से ही हो सकता है, जिसमे उतना ऐश्वर्य विद्यमान न हो।

ईश्वर स्वय है। स्वय के लिए अन्य स्वयो का अस्तित्व अनिवार्य है। 'मै' केवल 'तू' और 'वह' के मुकाबिल ही सार्थक पद बन सकता है।

जब हम किसी पदार्थ के वस्तुगत अस्तित्व की बाबत कहते है, तो हमारे मन मे दो ख्याल होते है :—

(१) उस पदार्थ का अस्तित्व हमारे जानने न जानने पर निर्भर नही। मेरे कमरे मे कुछ पुस्तके पडी है। मै दिन के समय इन्हे देखता हू। जब कही बाहर जाता हू, या रात्रि के समय सो जाता हूं, तो मुझे उनका प्रत्यक्ष नही होता। परन्तु मै ख्याल

हूं कि करता न हो, पुस्तके उस समय भी विद्यमान थी। सम्भव है मेरा विचार ठीक परन्तु जब मै उन्हें वस्तुगत कहता हू, तो मेरा विश्वास यही होता है।

(२) वह पदार्थ अन्य पदार्थो पर कुछ प्रभाव डालता है। जिस पदार्थ का होना न होना अन्य पदार्थो के लिए कोई भेद नहीं करता, उसके अस्तित्व और शून्य मे कोई अन्तर नही। मै अपनी दवात को मेज के एक कोने से उठा कर दूसरे कोने पर रखता हू। दवात के इस स्थान-परिवर्तन से पृथिवी का आकर्षण-केन्द्र अपनी जगह मे हिल गया है। साधारण मनुष्य को दवात निष्क्रिय प्रतीत होती है, परन्तु यह सारी पृथिवी और सारे विश्व, की स्थिति को निश्चित करने मे भाग लेती है। यही हाल जीवात्माओ का है। मै यह तो कल्पना ही नही कर सकता कि कोई पदार्थ परमात्मा के ज्ञान मे न हो, परन्तु, जहा तक अलग आत्माओ का सम्बन्ध है मेरे अस्तित्व पर इस बात का कोई असर नही पडता कि अन्य पुरुषो को मेरी बाबत पता है या नही। जीवों के अस्तित्व के सम्बन्ध मे, इस चिह्न से भी अधिक महत्व उनकी क्रिया का है। अब इसकी ओर देखे।

२. स्वाधीनता

ब्रह्म-सर्ववाद मे मनुष्यो की स्वाधीनता के लिए कोई स्थान नही। जो कुछ हो रहा है, ब्रह्म की माया है। और स्वय ब्रह्म भी जो कुछ करता है, वह उससे भिन्न कुछ नही कर सकता। स्पीनोजा ने स्वाधीनता को महत्व दिया है, परन्तु वह स्वाधीनता को इसके साधारण अर्थों मे नही लेता। उसके अनुसार, 'नियति की स्वीकृति ही स्वाधीनता है।' जिस पुरुष ने सत्ता के मर्म को समझ लिया है, वह उन वस्तुओं के पीछे, जो उसकी पहुच के बाहर है, भागता नही, और जो कुछ अटल है, उससे विचलित नही होता। हीगल के मत मे भी सारा मानव-इतिहास निरपेक्ष का प्रकाशन है, जिसका क्रम आरम्भ से ही नियत है। हीगल के एक अनुयायी ने कहा है कि निरपेक्ष का इतिहास तो है, परन्तु किसी अश का, जो निरपेक्ष के अन्तर्गत आता है, इतिहास नही। मनुष्य का इतिहास तो बनता ही उसके स्वाधीन कर्मो से है। 'जीवन अपने आपको निरन्तर नूतन बनाते रहने का नाम है।'

ईश्वरवाद मे मनुष्य की स्वाधीनता के लिए स्थान है। यह स्वाधीनता सीमाओ मे बन्द है, परन्तु उन सीमाओ मे चुनाव की सम्भावना है। मुझे प्राकृत आकर्षण पृथिवी पर स्थित रखता है, परन्तु मै पृथिवी पर इधर-उधर आ-जा सकता हूं। चिन्तन भी अनियमित नही होता, परन्तु नियमानुकूल चिन्तन का क्षेत्र कितना विशाल है!

ईश्वर कर्मो का अध्यक्ष है। कर्म करने मे हमारा अधिकार है, कर्म-फल के लेने

न लेने में हमारा अधिकार नही। जब कोई मनुष्य नदी मे कूदना चाहता है, तो ईश्वर उसे रोकता नही; परन्तु यदि जल गहरा है, और वह तैरना नही जानता, तो उसका डूबना न डूबना उसकी मर्जी पर निर्भर नही होता।

३. बुराई या अभद्र

अन्य मतों की तरह, ईश्वरवाद के लिए भी सबसे जटिल प्रश्न बुराई का अस्तित्व है।

. जान स्टूअर्ट मिल ने कठिनाई को इस तरह प्रस्तुत किया है :—

'बुराई का अस्तित्व विद्यमान है। यह क्यो यहा विद्यमान है? यदि परमात्मा बुराई को रोकने मे समर्थ है, और इसे रोकता नही, तो वह निर्दोष नही, यदि रोकना चाहता है, और रोक नही सकता, तो शक्तिमान नही। वह या तो पूर्ण रूप मे नेक नही, या शक्तिमान नही।'

अभद्र की बाबत कुछ विचार करे।

इस सम्बन्ध में हम ये प्रश्न पूछ सकते हे :—

(१) अभद्र क्या है?

(२) अभद्र का अस्तित्व वास्तविक है, या कल्पना-मात्र ही है?

(३) अभद्र सृष्टि में विद्यमान कैसे हो गया?

(४) अभद्र अर्थहीन कलक ही है, या इसका कुछ प्रयोजन भी है?

१. अभद्र क्या है?

अभद्र और भद्र दोनो सापेक्ष शब्द हे। अभद्र को दो अर्थों मे लिया जा सकता है—भद्र का अभाव, और भद्र-विरोधक। भद्र मे प्राकृत भद्र और मानवी भद्र का भेद किया जाता है। प्राकृत भद्र मे वह सब वस्तुए सम्मिलित है, जो जीवन को कायम रखने और इसे सुखी बनाने के लिए सहायक होती है। अन्न, वस्तु, मकान आदि ऐसी वस्तुएं हैं। मानवी भद्र मे वृत्त या श्रेष्ठ आचार को विशेष महत्व दिया जाता है। अरस्तू बौद्धिक और नैतिक दो प्रकार के वृत्तों का वर्णन करता है। अफलातू ने भी प्रमुख वृत्तों की सूची तैयार करने में इस भेद को अपने ध्यान में रखा था। बुद्धिमत्ता बौद्धिक वृत्त है; साहस, संयम और न्याय नैतिक वृत्त है।

आजकल आम ख्याल यह है कि सत्य सौन्दर्य और कर्त्तव्य-पराणयता भद्र के प्रमुख रूप हैं। कुछ लोग प्रेम को भी इनके साथ शामिल कर लेते है। अभद्र को भद्र का विरोधक समझें, तो यह असत्य, कुरूपता, पाप और द्वेष के रूप में प्रकट होता है।

२ अभद्र का अस्तित्व वास्तविक है या नहीं ?

इस सम्बन्ध में दार्शनिकों मे बहुत मतभेद रहा है। साधारण मनुष्य का तो यह पूछने का प्रश्न ही प्रतीत नही होता।

ब्रह्मसर्ववाद के लिए अभद्र का कोई वास्तविक अस्तित्व नही। भद्रवाद का सब से प्रसिद्ध समर्थक लाइबनिज है। उसके विचार मे, 'विद्यमान विश्व सम्भव विश्वो मे सर्वोत्तम विश्व है।' विश्व मे कोई त्रुटि नही, जो कुछ होता है, उसके लिए पर्याप्त हेतु है। फ्रास के साहित्यिक वाल्टेयर ने इस मन्तव्य को अपनी पुस्तक 'कैन्डाइड' मे हंसी का विषय बनाया है। मनुष्यों के व्यवहार मे धोखा, फरेब, चोरी, निर्दयता, हत्या ही दिखायी देते हैं, परन्तु कैन्डाइड का मत यही है कि हमारी दुनिया सभी सम्भव दुनियाओ मे उत्तम है। भूकम्प आता है, तो भी अच्छा है, क्योकि उसने उमी स्थान पर ज्वालामुखी का फटना रोक दिया है।

रेखा की दूसरी ओर अभद्रवाद है, जिसे ससार में कोई अच्छाई दिखाई नही देती। नवीन काल मे, जर्मनी का दार्शनिक शापनहावर प्रसिद्ध अभद्रवादी है। उसके ख्याल मे, हम सब जलती भट्ठी मे हैं; भेद इतना ही है कि बहुत से मध्य भाग मे हैं, कोई-कोई किनारे पर पडा है।

साधारण मनुष्य लाइबनिज के भद्रवाद और शापनहावर के अभद्रवाद दोनो को अमान्य समझता है। संसार मे भद्र और अभद्र दोनों विद्यमान हैं। हमारे लिए यह भी सम्भव है कि अपने मत से अभद्र मे कुछ कमी, और भद्र में कुछ वृद्धि, कर सकें। इस धारणा को हम आशावाद कह सकते हैं। मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने इस मत का समर्थन किया है।

३. अभद्र विद्यमान कैसे हो गया ?

बुराई अव्यवस्था के रूप में प्रकट होती है। ईश्वर के शासन मे व्यवस्था ही होनी चाहिए।

अफलातू ने इस विषय पर लिखा है, यद्यपि यह कहना कठिन है कि इस कथन में दार्शनिक अफलातू या कवि अफलातू बोल रहा है। वह कहता है कि ईश्वर की व्यवस्था तीन रूपों में व्यक्त होती है। विशुद्ध रूप मे यह द्युलोक के शासन मे दिखाई देती है। इसके निचले स्तर पर यह जीवन और विकार में प्रकट होती है। पृथ्वी पर मनुष्यों के कामों की देखभाल के लिए कुछ देव नियत किये जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जड़ प्रकृति में नियम की पूर्ण पालना होती है; वनस्पति की दुनिया में कुछ

गड़बड दिखाई देती है, मनुष्यो के जीवन मे जो अव्यवस्था है, उसकी बाबत हम जानते ही है। मध्यकाल के दार्शनिक सन्त टामस एक्विनास ने भी 'ईश्वरीय शासन' पर लिखते हुए, अव्यवस्था के सम्बन्ध मे दो प्रश्न उठाये है :—

(१) क्या ससार मे अव्यवस्था विद्यमान है?

(२) क्या व्यवस्था को भंग किया जा सकता है?

पहला प्रश्न अचेतन जगत की बाबत है, दूसरा चेतन प्राणियों की क्रिया की बाबत है। एक्विनास इन प्रश्नो का उत्तर 'हा' मे देता है। अव्यवस्था दो रूपों मे व्यक्त होती है एक रूप मे, कोई कार्य बिना कारण के होने लगता है, दूसरे रूप मे कारण विद्यमान होता है, परन्तु वह कुछ कर नही पाता। पहली अवस्था मे हम कार्य को आकस्मिक घटना कहते है, दूसरी अवस्था मे इसे अनियत कर्म कहते है। एक्विनास कहता है कि इन दोनो हालतो मे, हम सकुचित दृष्टिकोण मे देखते है और इसलिए हमे प्रतीत होता है कि कारण-कार्य का नियम स्थगित हुआ है। यदि हम व्यापक दृष्टिकोण से देखे, तो हमे पता लगेगा कि जो कारण हमारे ध्यान मे था, वह तो काम नही करता, परन्तु कोई और कारण काम कर रहा है। सकुचित दृष्टिकोण से देखने पर ही अव्यवस्था दिखाई देती है।

नैतिक बुराई को भी हम सकुचित और व्यापक दृष्टिकोण से देख सकते है। राज्य का काम नियम बनाना और उन नियमो को लागू करना है। इन्हे लागू करने के लिए, कुछ कर्मचारी नियुक्त किये जाते है। एक्विनास फरिश्तो या देवदूतो के अस्तित्व मे विश्वास करता था, उसके समय मे सारे ईसाई ऐसा विश्वास करते थे। वह कहता है कि नियम का बनाना तो परमात्मा ने अपने हाथ मे रखा है, इसमे कोई त्रुटि हो नही सकती। राजा अपनी सुविधा के लिए मन्त्रि-मडल नियुक्त करता है, जिनसे वह अपने शासन मे काम लेता है। इसी मे उसका गौरव भी है। ईश्वर भी ऐसा ही करता है। देवदूतो की देख-रेख मे भी मनुष्य ईश्वरीय नियमो का उल्लघन करते है। परन्तु यह उल्लघन किसी विशेष भद्र के खिलाफ विद्रोह के रूप मे ही हो सकता है, ईश्वर के व्यापक नियम को तोड नही सकता। वह व्यापक नियम यह है कि प्रत्येक कर्त्ता को अपने कर्मो का फल अवश्य मिलता है। जब कोई विद्यार्थी कालेज मे किसी नियम को तोडता है, तो समझता है कि उसने व्यवस्था पर विजय प्राप्त कर ली है। जब उसे दण्ड मिलता है, तो व्यवस्था की विजय घोषित हो जाती है। कालेज मे कभी दण्ड नही भी मिलता, परमात्मा के शासन मे ऐसा होना सम्भव नही। एक कवि ने कहा है—'परमात्मा का वज्र मारने मे जल्दी नही करता, परन्तु अनावश्यक देर भी नही करता।'

यहा पाप का स्रोत मनुष्य की स्वाधीनता है। पशु-पक्षी पुण्य और पाप दोनों के अयोग्य है। वे न इनमे भेद कर सकते है, न चुनाव कर सकते है। मनुष्य की स्थिति भिन्न है : उसे नैतिक बोध है, और वह स्वाधीन चुनाव भी कर सकता है। शतियो तक इस सम्बन्ध को एक भ्रममूलक रूप मे समझा जाता रहा : पहले मनुष्य आदम और उसकी पत्नी ने ईश्वर के स्पष्ट आदेश का उल्लंघन किया, और उसके फलस्वरूप, हम सब पापी पैदा होते है। इस ख्याल मे दो कठिनाइया थी :—

(१) यह मानना पडता था कि व्यक्ति को शरीर की तरह, माता पिता से आत्मा का अश भी मिलता है।

(२) पुण्य और पाप एक मनुष्य से दूसरे को दिये जा सकते है।

टामस एक्विनास ने कहा कि जन्म के समय, परमात्मा प्रत्येक मनुष्य को एक नयी आत्मा भी देता है।

दूसरी कठिनाई की बाबत काट ने कहा कि प्रत्येक का पुण्य और पाप उसकी अपनी सम्पत्ति है, और एक मनुष्य से दूसरे को दी नही जा सकती। यह ख्याल कि प्रथम पुरुष और स्त्री के गिरने से हम सब भी पापी पैदा होते है, ईश्वर के न्याय और व्यक्ति के उत्तरदायित्व दोनो के प्रतिकूल जाता है।

४. अभद्र का प्रयोजन

अभद्र के तीन अश प्रधान है—दुख, अज्ञान, पतन।

पहले दुख को ले।

यह तो सत्य है कि हम स्वभावत· दुख से बचना चाहते है, बच न सके, तो इससे छूटना या इसे कम करना चाहते है। परन्तु यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, हम भद्र-अभद्र की बाबत चिन्तन कर रहे है। जान स्टुअर्ट मिल ने कहा था कि किसी वस्तु को वाछनीय सिद्ध करने के लिए हम यही कर सकते है कि उसे इच्छा का वास्तविक विषय सिद्ध करे, जिस वस्तु की इच्छा की जाती है, वह इच्छा करने के योग्य है। उसी मिल ने यह भी कहा कि 'तृप्त सूअर से अतृप्त सुकरात होना अच्छा है।'

जब कोई रोग हमे दुखित करता है, तो वह हमारा ध्यान शरीर की अवस्था की ओर खीचता है। जीवन कायम रखने के लिए खाने-पीने की आवश्यकता है, परन्तु हममे से कितने इस ज्ञान के कारण खाते-पीते है? भूख-प्यास हमे ऐसा करने पर मजबूर करती है।

सुख और दुख का चिन्तन करते हुए, हम मूल्यो की दुनिया मे विचरते है। जैसा

डाक्टर मूर ने कहा है, किसी मिश्रित वस्तु या स्थिति का मूल्य उसके अंशो के मूल्यों का योग नही होता। जो माता तडपते बच्चे के साथ तडपने लगती है, वह संसार में दुख की मात्रा को बढाती है। जो माता इस स्थिति मे गाने-बजाने लगती है, वह आप खुश हो कर, दुख की मात्रा को कम करती है। ऐसी दो माताओ में हम किसके व्यवहार की प्रशसा करते है? कुछ स्थितियो मे दुख अभद्र नही रहता; इसकी अनुभूति शुभ भावना का अंश होती है।

अज्ञान अभद्र नही। अज्ञान से असन्तुष्ट होना, इसे कम करने की इच्छा करना ही मानसिक उन्नति का प्रमुख कारण है।

नैतिक पतन की बाबत यदि हम समझ ले कि यह हमारी स्वाधीनता का फल है, तो प्रश्न यही होता है कि क्या इस स्थिति मे स्वाधीनता भावात्मक मूल्य की चीज है। पशु-पक्षी निर्दोष है, वे गिरने के अयोग्य है। हमारे लिए उठना और गिरना दोनो सम्भव है। हम यह नही कह सकते कि पशु हमारी स्थिति मे आना चाहेगे, या नही; परन्तु मनुष्यो मे शायद ही कोई वर्तमान स्थिति के स्थान मे पशु स्थिति मे जाना चाहेग। साधारण पुरुष का विचार होता है—'यही खेल अच्छा है।'

५. ईश्वरवाद और अभद्र

हमने देखा है कि सर्वब्रह्मवाद के लिए नैतिक अभद्र की समस्या एक न खुलने वाली गुत्थी है। वास्तव मे, अभद्र मे नैतिक अभद्र ही कठिन समस्या है; दुख को तो हम पाप का फल भी समझ सकते है। पाप के सम्बन्ध मे मौलिक प्रश्न यह है कि जीवात्मा ईश्वर की रचना है, या अनादि सत्ता है। जो लोग इसे ईश्वर की रचना बताते है, उन्हे ईश्वर की असीम शक्ति को सुरक्षित रखने की चिन्ता होती है। इसका फल यह होता है कि वे जीवात्मा को स्वाधीनता से वञ्चित कर देते है, और मनुष्य के सारे कामों के लिए ईश्वर को उत्तरदायी बनाते है। ऐसा करने मे, वे कुछ न्याय विरुद्ध नही करते। ईरान के कवि हाफिज ने परमात्मा को सम्बोधित कर के कहा है :—

"तुमने मुझे नदी के मझधार मे फेक दिया है, और फिर कहते हो—सावधान रहो, कही वस्त्र को भिगो न लेना।"

उमर खय्याम ने इस कठिनाई की ओर कई चौपाइयो मे सकेत किया है। वह कहता है :—

'गतिशील उंगली लिखती है, और लिख कर आगे चल देती है। तुम्हारी सारी भक्ति और सारी बुद्धिमत्ता इसे लौट आने और आधी पंक्ति भी काट देने पर उद्यत नही कर सकती; न ही तुम्हारे अस्त्र इस लेख में एक शब्द को मिटा सकते है।'

'पृथिवी की प्रथम मिट्टी के साथ, उन्होंने अन्तिम मनुष्य की मिट्टी को गूधा, और तब अन्तिम कृषि-फल का बीज बोया। हा, उत्पत्ति की पहली प्रातः ने वह सब कुछ लिख दिया, जो हिसाब की अन्तिम सायं को पढ़ना होगा।'

सब से बलिष्ट आपत्ति निम्न चौपाई मे की गयी है :—

'ऐ खुदा! तूने मनुष्य को अधम मिट्टी से उत्पन्न किया, और अदन बाटिका में साप को भी रख दिया। उस सारे पाप के लिए, जिससे मनुष्य का चेहरा कलंकित है, क्षमा कर दे—और क्षमा प्राप्त भी कर ले!'

अन्तिम शब्द कितने भयावने है! मनुष्य जो पाप भी करता है, ईश्वर की दी हुई प्रवृत्ति के कारण करता है। वास्तव मे ईश्वर ही इस पाप के लिए उत्तरदायी है।

खय्याम परमात्मा से कहता है—'तू हमे बख्श दे, हम तुम्हे बख्श देते है।'

हाफिज और खय्याम दोनो के मन की गहराई मे यह ख्याल था कि उत्पन्न हुई आत्मा के लिए, शुभ-अशुभ क्रिया का भेद कुछ अर्थ नही रखता।

यदि ईश्वर की तरह, जीवात्माओ को भी अनादि मान ले, तो ईश्वर की शक्ति तो सीमित हो जाती है, परन्तु मनुष्य का व्यक्तित्व और उसकी स्वाधीनता बच रहते है। इसके साथ ही, अभद्र का समाधान भी सुगम हो जाता है। हमे ईश्वर की निस्सीम शक्ति और मनुष्य की स्वाधीन सत्ता मे चुनना होता है। ऐसा चुनाव करने मे, कोई एक ओर झुकता है, कोई दूसरी ओर झुकता है।

पर्यायवाची शब्द

Absolute निरपेक्ष
Abstraction पृथक्करण
Activity क्रिया
Aesthetics सौन्दर्य-विद्या
Agnosticism अज्ञेयवाद
Analysis विश्लेषण
Antithesis प्रति-धारणा
Appearance प्रकटन, विवर्त्त
Association संयोग
Atheism नास्तिकवाद
Atomism परमाणुवाद
Attribute गुण
Biology प्राण-विद्या
Category परतम जाति
Cause, Efficient निमित्त कारण
Cause, material उपादान कारण
Concept प्रत्यय
Canceptualism प्रत्ययवाद
Cosmos भूमण्डल
Cosmological निर्माणात्मक
Criticism आलोचन
Dualism द्वैतवाद
Duality द्वन्द्व
Emanation, theory of उद्‌घाटनवाद
Empiricism अनुभववाद
Energy शक्ति, एनर्जी
Epistemology ज्ञान-मीमान्सा
Extension विस्तार
Ethics नीति
Evil अभद्र, अशुभ
Evolution विकास
Evolution, Natural लौकिक विकास
Evolution, Transcendental लौकान्तरिक विकास
Evolution, Creative उत्पादक विकास
Experience अनुभव
Experiment निरीक्षण
Freedom स्वाधीनता
Good भद्र, शुभ
Harmony सामजस्य
Harmony, Pre-established पूर्व स्थापित सामंजस्य
Hypothesis प्रतिज्ञा
Idea विचार, प्रत्यय
Idealism आत्मवाद, अध्यात्मवाद
Idealism, Subjective मानवी अध्यात्मवाद
Idealism, Objective वस्तुगत अध्यात्मवाद
Idealism, Absolute निरपेक्ष अध्यात्मवाद
Identity अनन्यता
Immanence अन्तरात्मा होना, व्यापना
Individuality व्यक्तित्व
Instinct नैसर्गिक उत्तेजन

Intuition आत्म-ज्योति
Logic न्यायदर्शन
Materialism प्रकृतिवाद
Mechanism, theory of यन्त्रवाद
Metaphysics तत्व-ज्ञान
Modality विधि
Monad चिद्-बिन्दु, तात्विक बिन्दु
Monism एकवाद
Nature भूमण्डल
Naturalism लोकवाद
Necessity नियत
Nominalism नामवाद
Notion प्रत्यय
Observation परीक्षण
Ontology तत्व मीमासा
Optimism भद्रवाद, आशावाद
Pantheism ब्रह्मसर्ववाद, सर्वब्रह्मवाद
Particular विशेष
Passivity आक्रान्तता
Pessimism अभद्रवाद, निराशावाद
Phenomenon प्रकटन
Pluralism अनेकवाद
Positive भावात्मक
Proof हेतु
Proof, Ethical नैतिक हेतु
Proof, Ontological भावात्मक हेतु
Proof, Teleological प्रयोजनात्मक हेतु
Quality गुण
Quality, Primary प्रधान गुण
Quality, Secondary अप्रधान गण
Quantity मात्रा, परिमाण
Rationalism विवेकवाद
Realism वस्तुवाद, यथार्थवाद
Reality सत्, विश्व-तत्व
Reason बुद्धि
Reason, Pure विशुद्ध बुद्धि
Reason, Practical व्यावहारिक बद्धि
Scepticism सन्देहवाद
Self स्वय
Sense-data इन्द्रिय-उपलब्ध
Space देश, अवकाश
Subject ज्ञाता, चेतन
Substance द्रव्य
Synthesis समन्वय
Teleology प्रयोजनवाद
Theism आस्तिकवाद
Thesis धारणा
Truth सत्य
Truth, Coherence theory of, अविरोधवाद
Truth, Correspondence theory यथार्थवाद
Truth, Pragmatic theory of व्यवहारवाद
Uniformity अनुरूपता
Unity एकता
Universal सामान्य
Will संकल्प